हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१०५

मानव द्धि सम्बन्धी ि वेचन

लेखक
डेविड ह्यूम

अनुवादक
श्रीकृष्ण सक्सेना
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

स
१९६५

मूल्य
तीन रुपये, पैसे
३ ५०

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद–३

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमे उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक सख्या मे तैयार किये जायें। शिक्षा मन्त्रालय ने यह काम अपने हाथ मे लिया है और इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अग्रेज़ी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे है। यह काम राज्यसरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मन्त्रालय स्वय अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य मे भारत सरकार की शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक सस्थाओ में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डेविड ह्यूम द्वारा विरचित 'मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन' का श्री श्रीकृष्ण सक्सेना द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद पाठको की सेवा मे प्रस्तुत है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थो के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जायगा।

मुहम्मद करीम चागला,
शिक्षा मन्त्री, भारत सरकार

प्रकाशकीय

मनोव्यापार सदैव हमारे साथ रहते हैं। जब उन्हे अन्वेपण का विपय बनाया जाता है तो वे गुह्य हो जाते है। तब हमारी दृष्टि उन सीमाओ को उतना नही देख पाती कि उन्हे एक दूसरे से अलग कर उनके तात्विक स्वरूप का आभास करा सके। वास्तव मे मानसिक व्यापार अपनी अति सूक्ष्मता के कारण एक ही रूप एव अवस्था मे अधिक काल तक नही रह सकते। उनका बोध भी सूक्ष्म अवलोकन द्वारा ही करना चाहिए। यही हमारी प्रकृति का सिद्ध धर्म भी है। इसका विकास एव अभ्यास मनोयोग द्वारा और भी अधिक किया जा सकता है।

अन्त करण की विविध वृत्तियो को पहचानना, उन्हे एक दूसरे से पृथक तथा समुचित रूप से वर्गीकृत करके विचार एव विमर्श का विपय बनाना, उनके रूप को परिष्कृत करना, अपनी गवेपणाओ को आगे बढा कर उन आन्तरिक स्रोतो एव सिद्धान्तो को ढूँढ निकालना, जिनके द्वारा मानव अपने विभिन्न व्यापारो मे प्रेरित होता है जैसे विपयो पर 'मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन' नामक ग्रथ मे उसके मूल लेख डेविड ह्यूम ने जो विमर्ष प्रस्तुत किया है उससे मानव बुद्धि के सार्थक स्वरूप से अवगत होने मे सहायता मिलती है। इस ग्रन्थ के प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद मे मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन को बोधगम्य बनाने को अपेक्षित चेष्टा की गयी है।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी के पाठकों के लिये परमोपयोगी सिद्ध होगी तथा उनके लिए ज्ञान एव सतोष दोनो की उपलब्धि सभव होगी।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

दर्शन के विविध प्रकार

१ नैतिक-दर्शन अथवा मानवीय-प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन दो भिन्न प्रकार से किया जा सकता है प्रत्येक पद्धति के अपने-अपने गुण है और वे मानव समाज के विनोद, उपदेश एव सुधार मे सहायक होते हैं। एक की धारणा है कि मानव के जन्म का मुख्य उद्देश्य क्रिया है और वह अपनी रुचि एव भावनाओ से प्रभावित होकर ही विषयो की महत्ता एव रोचकता के कारण किसी वस्तु अथवा लक्ष्य का अनुसरण या अपहरण करता है। विषयो मे सद्गुणो का वडा महत्व है, अतएव इस पद्धति के दार्शनिक सद्गुण को बहुत मनोहारी स्वरूप देते है। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के हेतु वे अपनी प्रतिभा और शब्दशक्ति का पूरा उपयोग करते हैं और अपने विषय को अत्यन्त सरल और स्फुट रीति से इस तरह उपस्थित करते हैं कि वह मानव की भावनाओ को आकृष्ट करने और उसके विचारधारा को सन्तुष्ट करने मे परम उपयोगी होता है। वे साधारण जीवन से अत्यन्त स्फुट चित्र चुनते हैं और विरोधी चरित्रो को उचित वैषम्य के साथ उपस्थित करते हैं। वे सुख और कीर्ति के दृश्य दिखाकर हमे सन्मार्ग की ओर लुभाते है तथा हमे उस ओर जाने के लिए सुन्दर उपदेश एव परम उज्ज्वल उदाहरणो द्वारा प्रेरित करते है। वे हमे गुण और अवगुण के बीच अन्तर का अनुभव कराते है, हमारे भावो को उत्तेजित और नियन्त्रित करते है। और इस तरह वे हमारी मनोवृत्तियो को सत्कीर्ति एव सम्मान की ओर झुका कर समझते है कि उन्होने अपने परिश्रम का पूरा फल पा लिया।

२ दूसरे वर्ग के दार्शनिक मानव-क्रिया की अपेक्षा उसकी बुद्धि के स्तर पर अधिक विचार करते है और इसीलिए वे मानव की क्रियात्म-

कता को उत्तेजित करने की अपेक्षा मानवीय वुद्धि को परिणत करने की चेष्टा अधिक करते है। वे मानव-प्रकृति को ही अध्ययन का विषय समझकर वडी सूक्ष्मता के साथ उसकी जाँच करते हैं, जिससे वे उन सामान्य नियमो को जान लें जो हमारी वुद्धि को नियन्त्रित करते हैं, हमारे भावो को जागृत करते हैं तथा किसी वस्तु, कार्य अथवा व्यवहार को पसन्द या नापसन्द करने की वृति को वनाते है। इस वर्ग के दार्शनिक इस वात को दर्शन-साहित्य की हीनता समझते हैं कि दर्शन- शास्त्र भी आज तक निर्विवाद रूप से नीति, तर्क एव आलोचना के सिद्धान्त का निर्धारण न कर सके और सत्य एव असत्य, गुण एव दोष, सौन्दर्य एव वैरूप्य के मौलिक आधारो को निश्चय किये विना ही इनकी चर्चा करें। इस कठिन कार्य के सम्पादन मे वे वाधाओ से परास्त नही होते, परन्तु व्यक्तिगत निर्देशनो को लेकर सामान्य नियमो को स्थिर करते हुए वे अपने तर्क को सर्व सामान्य सिद्धान्तो तक पहुँचाने की चेष्टा करते हैं और तव तक विश्राम नहीं लेते जव तक वे उन मौलिक सिद्धान्तो पर पहुँच न जायँ जिनका ज्ञान हर विज्ञान के लिए मानव जिज्ञासा की परम सीमा है। यद्यपि उनके तर्क सूक्ष्म और जनसाधारण के लिए अगम्य होते हैं और इसी कारण वे केवल सुवोध विद्वानो की ही स्वीकृति चाहते हैं, वे अपने जीवन परिश्रम की पर्याप्त सफलता इसी मे मानते हैं कि वे कतिपय गुह्य तत्वो का अनावरण कर सकें और उसे आगामी पीडी के ज्ञान के लिए छोड जाय।

३ यह तो निश्चित ही है कि सुगम और प्रत्यक्ष-दर्शन सूक्ष्म एव तात्विक-समीक्षा की अपेक्षा जन-साधारण को अधिक रोचक है। सम्भवत कई तो सुगम-दर्शन को इसलिए भी अपनाते हैं कि वह न केवल अधिक हृदयगम है, परन्तु अधिक उपयोगी भी है। सुगम-दर्शन जीवन के साधारण स्तर से अधिक सम्वन्ध रखता है, वह हमारे हृदय तथा मनोभावो पर अवलम्वित होकर मानव-व्यवहार को पूर्णता के आदर्श तक पहुँचा देता है। इसके विपरीत, सूक्ष्म दर्शन सामान्य व्यवहार एव क्रिया की परिधि से वाहर होने के कारण, तत्काल लुप्त हो जाता है। ज्यो ही वह

दार्शनिक छाया से हटकर आलोक मे आ खडा होता है, तत्काल लुप्त हो जाता है। सूक्ष्म-दर्शन के सिद्धान्त हमारे चरित्र एव व्यवहार पर कोई स्थायी प्रभाव नही डाल सकते। हमारे हृदय के भाव, हमारी वासनाओ की जागृति, हमारी कल्पनाओ की तीव्रता, सूक्ष्म दर्शनो के समस्त सिद्धान्तो को कुचल कर गम्भीर विचारक को तो एक निकम्मा पुरुष वना देते है।

४ यह तो स्वीकार करना ही होगा कि स्थायी तथा अनुरूप कीर्ति सदा ही सुगम-दर्शन को प्राप्त हुई है। सूक्ष्म दार्शनिको को तो क्षणिक सम्मान अपने-अपने युग की मनोवृति के कारण प्राप्त होता रहा है परन्तु वे अपनी कीर्ति को आगामी पीढी तक वनाये रखने मे सदा असमर्थ रहे हैं। किसी भी सूक्ष्मद्रष्टा के लिए अपने सूक्ष्म तर्क मे त्रुटि करना वडा आसान है और एक गलती आगे चलकर और गलतियो को जन्म देती रहती है। कारण यह कि सूक्ष्म दार्शनिक किसी भी विचित्र निगमन पर पहुँचने पर चकित नही होता और न लौकिक मतभेद से ही घवडाता है। इसके विपरीत स्थूल दार्शनिक जनसमूह के सामने अपनी सीधी-सीधी विचारधारा को सुन्दर ढग से प्रस्तुत करते हुए दैववश यदि कोई गलती कर बैठता है तो वह फिर आगे नही वढता और सामान्य वुद्धि के वल पर अपने तर्क को नया रूप देकर और मनोभावो को स्वाभाविक जागृति देकर सही रास्ते पर फिर लौट आता है और वह इस तरह खतरनाक धोखे (व्यामोह) से अपने आप वच जाता है। देखो आज भी सिसरो की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अरस्तु की ख्याति सुदुष्प्राप्य है। लावुयरी का नाम समुद्र पार पहुँच गया और उसकी ख्याति आज भी जीवित है, परन्तु मैलीब्रान्की की ख्याति अपने ही राष्ट्र एव युग तक सीमित रही है। सम्भवत एडिसन का अध्ययन उस वक्त तक भी रुचिपूर्वक होता रहेगा जव कि लौक का नामोनिशान भी न रहेगा।

शुष्क दार्शनिक तो एक ऐसा व्यक्ति है जिसे कि इस दुनिया मे (जन समाज मे) वहुत ही कम अपनाया जाता है क्योकि वह समाज के हित या प्रमोद को वढाने मे विलकुल निरुपयोगी माना जाता है, वह तो

समाज से एकदम दूर हो, अपने ऐसे विचारो और सिद्धान्तो मे लीन रहता है जो प्राय जनसामान्य की बुद्धि से परे हो। दूसरी ओर, अत्यन्त अज्ञानियो की तो और भी दुर्दशा है, कारण कि विज्ञान के इस प्रगतिकाल मे उसमे अधिक बुद्धि-शून्य कोई भी व्यक्ति नही माना जाता जो कि तात्विक विचारो के आनन्द मे रम न लेता हो। सर्वथा पूर्ण (सिद्ध) व्यक्ति तो वही समझा जाता है जो इन दो ध्रुवो के मध्य स्थित हो, जो अध्ययन, लोक-व्यवहार एव व्यवसाय के प्रति समादर रुचि के साथ-साथ वार्तालाप मे वैसा ही सूक्ष्म ध्येय एव सजीदगी रखता हो जो साहित्य के अध्ययन से उत्पन्न होती है, तथा व्यवसाय मे वैसी ही प्रामाणिकता और सच्चाई रखता हो जो कि वास्तविक दर्शन का प्रकृतसिद्ध फल है। समाज मे इस प्रकार के पूर्ण-चरित्र व्यक्ति के चरित्र को सर्वत्र फैलाने के लिए सरल-सुगम रीति की रचनाओ को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है—वे रचनाए सीधी-सादी होनी चाहिए जो जीवन की गम्भीर समस्याओ मे न उलझें और जिनके तात्पर्य को समझने के लिए गम्भीर अध्यवसाय की अथवा एकान्तवास की अपेक्षा न हो और जो पाठक को उदार भावो से परिचित कर मानव जीवन के लिए हर स्थिति मे उपयोगी सिद्ध होने वाले सिद्धान्तो से सुसज्जित कर जन समाज के सामने रख सकें। ऐसी सुगम रचनाओ से नीति हृदयगमवन जाती है। विज्ञान रोचक हो जाता है, सहवास लाभकारी एव अवकाश आनन्दप्रद।

मानव एक बुद्धि-प्रधान जीव है जो इसी वजह से विज्ञान से उचित तृप्ति एव पुष्टि पाता है, परन्तु उसकी बुद्धि की परिधि इतनी सीमित होती है कि कल्याण एव प्राप्ति की दृष्टि से उसे स्वल्प सतोष ही मिल पाता है। मानव जितना बुद्धिजीवी प्राणी है उतना ही वह एक सामाजिक जीव भी है, तथापि वह न तो सदा ही अपने सहवासियो के सम्पर्क का सुख भोग सकता है और न सदा ही उनके प्रति चाह ही बनाये रख सकता है। साथ ही साथ, मानव एक क्रियाशील जीव भी है—अपनी तत्परता की प्रकृति के कारण अथवा जीवन की विविध अपेक्षाओ की प्रेरणा से, उसे किसी न किसी व्यवसाय मे जुटना ही पडता है, परन्तु उसका मन कुछ

आराम भी चाहता है—वह सदा चिन्तामय परिश्रम मे अपनी वृत्ति को लगा नही सकता। इससे यह पता चलता है कि प्रकृति ने मानव जाति के लिए एक सम्मिलित जीवन की ही व्यवस्था की है। प्रकृति, मनुष्य को गुप्त रीति से एक ही ओर झुकाव के विरुद्ध सदा चेतावनी देती रहती है ताकि मनुष्य अन्य व्यापार के लिए एकदम निरुपयोगी न बन जाय। प्रकृति का आदेश है—विज्ञान की ओर अपनी लगन रखो। परन्तु उसे सदा मानवता के लिए ही आगे बढने दो ताकि तुम्हारा विज्ञान, मानवीय क्रिया एव समाज की प्रगति से साक्षात् सम्बन्ध रख सके। वह कहती है—गम्भीर विचार एव सूक्ष्म अन्वेषण का मैं निषेध करती हूँ और जो इनमे अपने आप को खो देते हैं उन्हे सदा अनन्त अनिश्चितता के गर्त मे डाल, उदास बनाकर उचित दण्ड देती हूँ। प्रकृति का उपदेश है—दार्शनिक अवश्य बनो, परन्तु अपने दार्शनिक विचारो के साथ-साथ मनुष्य फिर भी रहो।

५ यदि लोग गम्भीर दार्शनिको पर किसी प्रकार का आक्षेप न करके केवल सुगम दर्शन को अपनाने के पक्ष मे ही होते तो यह मानने मे कोई आपत्ति न होती कि व्यक्ति को बिना किसी विरोध के अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विचारधारा रखने का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। परन्तु जीवन मे प्राय ऐसा नही देखा जाता क्योकि गम्भीर विचार प्रणाली जिसे आध्यात्म-दर्शन कहते है प्राय नितान्त अनुपादेय मानी जाती है—इसी कारण उसके पक्ष मे भी विवेचन करना उचित ही है।

प्रारम्भ मे हम यही कह सकते हैं कि सर्वप्रथम लाभ जो सूक्ष्म एव प्रामाणिक दर्शन से होता है, वह है सुगम तथा मानवोपयोगी विचार परम्परा को प्रोत्साहन। कारण, सूक्ष्म दर्शन से दूर रहकर सुगम दर्शन कभी भी अपनी वृत्तियो को, अपने सिद्धान्त तथा तर्क को उचित प्रामाण्य एव बल नही दे सकता। साहित्य की समस्त रचनाए मानव जीवन की विविध अवस्थाओ और स्वरूप के चित्र मात्र है। वे जिस वस्तु अथवा चित्र को उपस्थित करती है तदगत धर्मो के प्रति निन्दा-स्तुति अथवा सम्मान या उपहास की हमारी भावनाए जागृत करती है। वही कलाकार

अधिक सफल होने का अधिकारी है जो अपने काम मे सहृदयता एव सूक्ष्म दृष्टि के साथ-साथ, प्रस्तुत वस्तुगत आन्तरिक स्वरूप का भी सही-सही ज्ञान रखता हो और साथ ही साथ बुद्धि के समस्त व्यापार, भावो के विविध प्रभाव, तथा गुण-अवगुण का विवेचन करने वाला, विविध धारणाओ से भली भाँति परिचित हो। यह आभ्यन्तर गवेपणा चाहे कितनी ही कष्टप्रद क्यो न प्रतीत होती हो, परन्तु किसी न किसी मात्रा मे वह उस व्यक्ति के लिए परम आवश्यक हो जाती है जो जीवन को स्फुट एव बाह्य चित्रो तथा रीतियो का स्वरूप सफलता के साथ चित्रित करना चाहता हो। एक शरीरधारी हमारे सामने अत्यन्त बीभत्स वस्तु रखता है, परन्तु शरीर के विज्ञान की आश्यकता तो किसी भी चित्रकार को होगी चाहे वह वीनस या हेलिन का चित्र ही क्यो न खीच रहा हो। चित्रकार अपनी कला के अनुरूप, बढिया से बढिया रग का प्रयोग क्यो न करता हो, अपनी प्रतिमाओ को सुन्दर से सुन्दर स्वरूप देने की चेष्टा क्यो न कर रहा हो, फिर भी उसे मानव शरीर के अवयवो के सगठन, अस्थि-जाल तथा पेशियो की रचना तथा प्रत्येक अगोपाग के स्वरूप तथा क्रिया की ओर अवश्य ध्यान देना होगा। और चित्र की सच्चाई हर हालत मे सौन्दर्य का हितैषी है और उचित तर्क कोमल भावनाओ का पुरस्कर्ता है; एक का मूल्य गिराकर दूसरे की महत्ता सिद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी कला अथवा व्यवसाय मे, चाहे वे हमारे जीवन अथवा व्यापार से कितने ही निकट सम्बन्ध रखते हो, प्रामाणिक दृष्टि रखना प्रस्तुत कला अथवा व्यवसाय को पूर्णता के अधिक निकट ले आता है और फलत समाज के हित-साधन मे अधिक लाभप्रद होता है। और यद्यपि दार्शनिक लौकिक व्यवसाय से दूर रहता है, परन्तु दार्शनिक प्रतिभा यदि अपनायी जाय तो वह समग्र समाज मे प्रस्तुत हो हर कला एव व्यवसाय मे भी भली प्रकार प्रामाणिकता प्रदान कर सकती है। दार्शनिक प्रतिभा के फलस्वरूप, एक कूटनीतिज्ञ अपनी शक्ति को यथोचित प्रकट करने मे तथा उसके समीकरण मे अधिक सूक्ष्मता और दूरदर्शिता को प्राप्त कर सकेगा, एक वकील

अपने तर्क मे अधिक अच्छी रीति एव सूक्ष्मता से सिद्धान्तो को अपना सकेगा, और सेनानायक अधिक अच्छा अनुशासन कर सकेगा तथा अपनी योजनाओ एव सैनिक क्रिया मे अधिक सतकता प्राप्त कर सकेगा। शासन-पद्धति मे पुरातन प्रणाली की अपेक्षा वतमान प्रणाली मे तथा आधुनिक दर्शन की प्रमाणिकता मे भी अब बडा सुधार हो गया है और क्रमश इनमे और भी अधिक सुधार होने की आशा है।

६ यदि दार्शनिक अध्यवसाय से केवल गवेषणात्मक उत्सुकता के शमन के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ न भी दीख पडता हो तो भी यह हमे हेय नही है, क्योकि यह मानव जाति को उपलब्ध अनेक मनोविनोद के साधनो मे सर्वथा निरुपाय आनन्द का साधन अवश्य है। विज्ञान एव ज्ञान के पथ पर चलना जीवन का सबसे मधुर एव निरुपाय मार्ग है और जो कोई भी इस मार्ग मे स्थित कठिनाईयो को दूर कर सके अथवा इसमे नयी शाखा उद्धृत कर सके उसे अवश्य ही मानव जाति के उपकारको मे मानना चाहिए। और यद्यपि ये गवेषणाएँ कष्टप्रद एव श्रमकारिणी हैं, फिर भी ये सुन्दर स्फूर्तिपूण स्वास्थ्य के साथ-साथ एक प्रकार के व्यायाम का काम करती हैं और अपनायी जाने पर अन्वेषक को एक अद्भुत आनन्द भी देती है यद्यपि जन सामान्य को यह श्रमावह एव भारस्वरूप प्रतीत होती है।

गम्भीर सूक्ष्म दर्शन की इस गहनता पर केवल कष्टप्रद एव श्रमकारिता के नाते ही आपत्ति नही उठायी जाती है, वरन् ऐसा भी कहा जाता है कि यह अनिश्चितता एव भ्रमो का अनिवार्य जन्मस्थान है। यह आपत्ति आध्यात्म विज्ञान के अधिकतर भाग पर उठायी जा सकती है, क्योकि वास्तव मे आध्यात्म विद्या सही अर्थ मे विज्ञान नही कही जा सकती। यह कहा जाता है कि अध्यात्म-विचार मानव के निरर्थक गर्व का परिणाम है जो व्यर्थ ही बोधातीत विषय मे प्रवेश करने की चष्टा करता है, अथवा जन समूह मे व्याप्त, भ्रात धारणाओ को दार्शनिक ताना-बाना पहनाता है। आम मैदान से भगाये जाने पर ये भ्रमात्मक विचार मस्तिष्क की किसी अरक्षित राह पर धावा बोलने के लिए छुपे बैठे रहते हैं और अवसर पाने पर मानव मास्तिष्क को धार्मिक भय और मान्यताओ से भरपूर कर देते हैं। इनका दृढ से दृढ बैरी भी यदि क्षण भर असावधान हो जाय

तो इनका शिकार वन जाता है और कई लोग तो कायरता और मूर्खता के कारण स्वय ही शत्रुओ के लिए किले के दरवाज़े खोल देते है और स्वय उन्हे वैधानिक शासक मानकर आदर एव विनय के साथ स्वागत करते हैं।

७ परन्तु क्या यह कारण इसके लिए पर्याप्त है कि दार्शनिक अपनी गवेपणाओ से वाज आ जाय और ऐसी मान्यताओ को अपने-अपने घरो मे जमी रहने दें ? क्या यह उचित न होगा कि इन धारणाओ के गुह्य से गुह्य आगार मे प्रवेश कर उनके साथ सघर्ष किया जाय ? यह एक व्यर्थ की आशा है कि मानव वार-वार निराश होने पर, स्वय ही इन हवाई कल्पनाओ को त्याग देगा और मानवीय वुद्धि का उचित क्षेत्र ढूंढ निकालेगा। कारण यह है कि वहुत-से लोगो की ऐसी व्यर्थ की कल्पित चर्चाओ मे नैसर्गिक रुचि रहती है, इतना ही नही वल्कि, मैं यह भी कह सकता हू कि तर्कमूल विद्वानो मे ऐसी अन्ध निराशाओ के लिए कही भी स्थान न होना चाहिए। पूर्ववत् प्रयत्न चाहे कितने ही असफल क्यो न हुए हो तथापि इस आशा के लिये सदा अवकाश है कि कठोर श्रम, सद्भाग्य, एव आगामी पीढी का वुद्धि-वैभव, उन आविष्कारो मे समर्थ हो जाय जो पिछली पीढियो को ज्ञात न थे। प्रत्येक धीर, धीमान को अपने कठोर परिश्रम का पारितोपिक प्राप्त होता ही है और वह अपने पूर्वजो की असफलताओ से हताश होने की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहित ही होता है। अतएव समस्त अध्ययन को इन दुर्वोध प्रश्नो से मुक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि मानव वुद्धि के सार्थक स्वरूप पहचानने के लिए गम्भीर विमर्श किया जाय। और उसकी शक्ति एव सामर्थ्य का ठीक-ठीक विश्लेपण कर यह सिद्ध कर दिया जाय कि इस प्रकार की निर्मूल और असम्बद्ध मान्यताओ को स्थान देने मे विद्वान् असमर्थ एव अयोग्य है। हमे इस परिश्रम पर जुट जाना चाहिए ताकि हम सदा के लिए सुखपूर्वक रह सकें और सावधानी के साथ असली अध्यात्म-विद्या का विकास करते रहे जिससे मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) का विध्वस हो सके। प्रमाणिक तर्क विविध प्रकृति के मानवो के लिए एक रामवाण औपधि है, जो उस कठिन दर्शन एव आध्या-

श्मशान के भूत को उन्मूलित कर सकता है जो लौकिक मान्यताओ मे घुल-मिल कर असावधान विचारको के लिए भूल-भूलैया बन, व्यय ही उसको विज्ञान का रूप दे देता है।

८ अवोतव्य विषय के अनिश्चित एव अग्राह्य अश को हेय सिद्ध करने के अतिरिक्त इसके साक्षात् लाभ भी अनेक है जो मानव प्रकृति की शक्तियो के ठीक-ठीक अध्ययन से प्राप्त हो सकते है। मनोव्यापार की यह एक विशेषता है कि यद्यपि वे सदा हमारे ही साथ रहते है तथापि अन्वेषण के विषय बनाये जाने पर वे एकदम गुह्य हो जाते है और हमारी दृष्टि उन सीमाओ को उतना नही देख पाती कि उन्हे एक दूसरे से पृथक कर हमे उनका तात्विक स्वरूप बतला सके। मानसिक व्यापार वास्तव मे इतने सूक्ष्म है कि वह एक ही रूप एव अवस्था मे अधिक काल तक नही रह सकते और उनका बोध उतने ही सूक्ष्म अवलोकन द्वारा करना चाहिए जो हमारी प्रकृति का सिद्धधम है और जिसका विकास अभ्यास एव मनोयोग द्वारा और भी अधिक किया जा सकता है। विज्ञान का वह भाग कदापि उपेक्षणीय नही हो सकता जो अन्त करण की विविध वृत्तियो को पहचानने, एक दूसरे से पृथक तथा समुचित रूप मे वर्गीकरण करके उन्हे विचार एव विमर्श का विषय बनाकर उसके रूप को परिष्कृति करे। पृथक्करण एव वर्गीकरण का इतना मूल्य तब नही रहता जब उसका सम्बन्ध इन्द्रियगोचर बाह्य विषयो के साथ हो, परन्तु वही जब आन्तरिक मनोव्यापारो के सम्बन्ध मे हो तो उसका मूल्य अवश्य ही तदर्थ किये हुए श्रम के अनुसार कही अधिक हो जाता है। और यदि हम किसी भी कारण इस मानसिक भूगोल से अथवा मन के विभिन्न अवयवो तथा शक्तियो के चित्रण से अधिक आगे न बढ जायें, तो भी यहाँ तक पहुँचना ही सर्वथा सन्तोषजनक है, और यह ज्ञान जितना अधिक स्फुट होने लगे, जो वास्तव मे स्फुट नही है, उतना ही इसका अज्ञान तो और भी अधिक ग्रहणीय होना चाहिए।

और यदि हम अपने विचार मे ऐसे पक्षपाती न बन जायँ कि अन्य तर्क एव व्यापार ही नष्ट कर दें तो हमे यह भी शकास्पद नही है कि मानव

का मस्तिष्क विविध शक्तियो से सम्पन्न है और ये शक्तिया एक दूसरे से विभिन्न हैं । इनमे जो समान दीख पडती है वे भी सूक्ष्म विचार के पश्चात् पृथक प्रतीत होने लगती है, फलत इस विषय के समस्त विचारो मे सत्यता एव मिथ्यात्व उपलब्ध हो सकता है जिसका विवेक मानव बुद्धि के लिए अगम्य नही है । इसी प्रकार के और भी अनेक स्फुट भेद हैं, जैसे इच्छा और बुद्धि मे, कल्पना और कामनाओ मे—जो हर मानव समझ सकता है, इसी प्रकार अन्य सूक्ष्म दार्शनिक विभेद भी इसके अन्दर छिपे हुए है यद्यपि वे कुछ दुर्बोध हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ आधुनिक निदर्शन हमे इस विद्या की दृढता एव निर्णयात्मकता का ज्ञान करा सकते हैं जो हमे वैज्ञानिक गवेपणाओ द्वारा उपलब्ध हुए हैं । फिर क्या यह हमारे लिए उचित होगा कि हम उन विचारको के श्रम का तो मूल्य करें जो हमे दूरवर्ती नक्षत्र-मण्डल की स्थिति अथवा अनुपमता का तो बोध कराते हैं, पर जो हमारे जीवन एव शरीर से निकटतम सम्बन्ध वाले मन के अवयवो का सफलतापूर्वक विश्लेपण करके हमे उसका सही चित्र उपस्थित करते हैं उनको हम अवज्ञा करें ।

९. तो क्या हम यह आशा नही कर सकते कि दर्शनशास्त्र यदि सावधानी से विकसित किया जाय और जनता के उचित ध्यान द्वारा प्रोत्साहित किया जाय तो वह अपनी गवेपणाओ को और आगे बढा कर किसी न किसी मात्रा मे हमारे उन आन्तरिक स्रोतो एव सिद्धान्तो को ढूंढ निकाले जिनके द्वारा मानव अपने विभिन्न व्यापार मे प्रेरित होता है । ज्योतिपियो ने सदियो तक वाह्य दृश्यो को देख, ज्योतिज्वल की गति, अनुक्रम एव आयाम को सिद्ध करने के प्रयासो मे ही सन्तोप किया है। और फिर, एक दार्शनिक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने विशुद्ध तर्क के बल पर ही उन शक्तियो और नियमो का अन्वेपण किया जिनके द्वारा ग्रह गति प्रेरित एव नियन्त्रित होती है। इसी तरह, प्रकृति के इतर स्वरूप को समझने के भी प्रयास किये गये है। तब कोई कारण नही कि उसी लगन एव अवधान के साथ हमे मानव की मानसिक शक्ति एव सम्पत्ति के सम्बन्ध मे अन्वेपण के अध्यवसाय मे पूरी सफलता न हो । यह सम्भव है कि मनोव्यापार

की एक क्रिया अथवा नियम अन्य क्रिया एव नियम पर अवलम्बित हो जिससे कि एक और सामान्य तथा व्यापक सिद्धान्त का निगमन किया जा सके। सम्भवत इस दिशा मे सावधान प्रयास करने के पूर्व यह जानना कठिन हो सकता है कि इस दिशा मे किया हुआ अन्वेषण हमे किस कोटि तक पहुँचाने मे समर्थ होगा। परन्तु यह निश्चित है कि इस दिशा मे प्रतिदिन ऐसे लोग भी प्रयास प्रस्तुत करते ह जो प्राय अत्यन्त असावधान विचारक हैं। अतएव इससे अधिक उचित और कुछ नही हो सकता कि हम पूर्ण अवधान एव ध्यान से इस सत्वान्वेपण मे जुट जायँ—कारग, यदि यह विषय मानव बुद्धिगम्य है तो अवश्य ही यह सुख की बात होगी कि हम उस तत्व को पा जायँ, और यदि नही, तो हम इस मुधा प्रयास से सदा के लिए विदा माँग लें। इस अन्तिम निर्णय पर हमे सहसा नही पहुँचना चाहिए क्योकि यह सर्वथा अवाछनीय है। कारण, इस निर्णय पर पहुँचना दर्शन की उपादेयता एव शोभा को कितना घटा देगा। नीतिज्ञो ने मानव निन्दा अथवा स्तुति को प्रेरित करने वाली क्रियाओ के समूह एव विभेदो के सम्बन्धो मे विचार करते हुए सदा ही ऐसे किसी *एक सामान्य सिद्धान्त की खोज करने का यत्न किया है जिन* पर कि इन विभिन्न भाव का उद्गम अवलम्बित हो सके और यद्यपि इस प्रयास मे वे कभी-कभी निशान से आगे बढ गये है, तथापि यह स्वीकार ही करना होगा कि यह अपराध भी उनका क्षम्य है क्योकि अन्त मे उनका उत्साह एक ऐसे सिद्धान्त को स्थिर कर ही सका जिसके अन्तर्गत समस्त गुण-दोष आ सकें। इसी प्रकार का प्रयास आलोचको, तार्किको एव कूटनीतिज्ञो का भी रहा है। उनके प्रयास सर्वथा निष्फल नही कहे जा सकते। यद्यपि यह निश्चित है कि अधिक समय अधिक विमर्श, एव मनोयोग से, ये विद्याए भी अधिक पूर्णरूप प्राप्त कर लेती। अतएव, ऐसी विचार परम्पराओ को सहसा त्याग देना, मानव जाति पर अपने अपरिष्कृत नियमो एव सिद्धान्तो को थोप देने वाली परम साहसी विधेयात्मक दर्शन विचार से भी कही अधिक विवेकहीन सिद्ध होगी। तो क्या हुआ यदि मानव प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली यह तर्क प्रणाली सूक्ष्म

एव दुर्बोध हो ? इससे उनकी असत्यता तो सिद्ध नही होती। हा, यह आशका तो अवश्य होती है कि यह विषय जो कि इतने बुद्धिमान् और गम्भीर विचारको की दृष्टि से ओझल रहा हो स्फुट एव सुगम नही हो सकता। अत इस खोज मे हमे चाहे कितना ही कष्ट क्यो न उठाना पडे, हमे उसका पर्याप्त प्रतिफल न केवल ज्ञान, परन्तु सुख के रूप मे भी अवश्य मिलेगा यदि इनके द्वारा हम इन अवर्णनीय महत्व के विषयो पर उपलब्ध ज्ञानराशि मे कुछ की परिवृद्धि कर सकें।

१० फिर भी, इन विचारो की सूक्ष्मता उपयोगी नही वरन् कुछ हानिकर ही है। सभवत यह कठिनाई सावधानी एव कला के द्वारा और अनावश्यक बाल की खाल की उलझन मे न पडने से दूर की जा सके। अतएव प्रस्तुत विवेचन मे हम इसी तरह कतिपय उन विषयो पर प्रकाश डालने की चेष्टा कर रहे हैं जिनके अनिश्चित रूप ने बुद्धिमानो को और अपने अगम्य रूप ने अज्ञो को आज तक इन से दूर रखा है। यह कितना सुख का विषय हो यदि हम गम्भीर विमर्श को स्फुटित, एव सत्य को नवता से सयोजित कर दर्शन के विभिन्न पथो की सीमाओ को एकस्थ करने मे समर्थ हो। और यह तो और भी अधिक सुख का विषय हो यदि हम सुगम रीति से तर्क करते हुए सूक्ष्म दर्शन के उन आधारो को दूर कर सकें जिन्होने आज तक सशित मान्यताओ को आश्रय दिया और अविवेक तथा मिथ्यात्व को असलियत का जामा पहना रखा है।

द्वितीय परिच्छेद

प्रत्ययोद्गम

११ हर कोई इस बात को सहज ही मान लेगा कि मानसिक अनुभूतियों में परस्पर महान् विभेद है—यथा—वह अनुभूति जिसमे वह प्रत्यक्ष रूप से कठोर आतप का कष्ट पा रहा हो अथवा सहज उष्णता का सुख ले रहा हो और वह अनुभूति जिसमे वह पूर्वानुभव का स्मरण करता हो अथवा अपनी कल्पना के बल उसको पूर्वाभासित कर रहा हो। मानस शक्तियाँ चाहे कितनी ही सचाई के साथ इन्द्रियजनित प्रत्यक्षानुभूति की नकल का अभिनय क्यो न करें, तथापि वे प्रत्यक्षानुभूति की सजीवता एव तीव्रता को कदापि नही पहुँच सकती। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि जब स्मृति या कल्पना अपने पूर्ण रूप मे उपस्थित हो तब वे विषय को इतनी यथार्थता के साथ प्रस्तुत करती है कि हमें ऐसा लगता है कि हम उसका अनुभव प्रत्यक्षरूप से ही कर रहे हो। तथापि वे सजीवता की उस कोटि तक नही पहुँच सकती जिसमे प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष के भेद लुप्त हो जाय। कविता के समस्त वर्ण चाहे कितने ही मनोहर क्यो न हो वे प्राकृतिक विषय का चित्रण उस सीमा तक कदापि नही कर सकते जिसमे वर्णन ही स्वय वर्ण्य बन जाय। कल्पना कितनी ही रुचिर क्यो न हो वह मन्द से मन्द प्रत्याक्षानुभूति से सदा हीन हो जाती है।

इस प्रकार का विभेद अन्य मानसिक अनुभूतियो के सम्बन्ध में भी पाया जाता है। क्रोधाविष्ट पुरुष के अनुभव उस व्यक्ति के अनुभवो से अवश्य भिन्न होते हैं जो क्रोध की कल्पना मात्र कर रहा हो। जब हम अपने अतीत भावो का स्मरण करते हैं तो हमारी कल्पना अवश्य ही उनका यथार्थ प्रतिरूप उपस्थित करती है और उस विषय का अनुकरण भी करती है परन्तु जब उनकी तुलना हम प्रत्यक्षानुभूति के स्वरूप से करते है तो कल्पना के वर्ण फीके और निर्जीव ही प्रतीत होते हैं। इन दो

प्रकार की अनुभूतियो मे विवेक करने के लिए किसी सूक्ष्म दृष्टि अथवा दार्शनिक मस्तिष्क की आवश्यकता नही है।

१२. अतएव हम मानसिक अनुभूतियो को दो वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं जिसका आधार उनकी तीव्रता एव सजीवता के भेद पर स्थित है। जो कम तीव्र या कम सजीव होते हैं हम विचार अथवा कल्पना कह सकते है। दूसरे अनुभूतियो के वर्ग की सामान्य सज्ञा हमारी तथा अन्य कई भाषाओ मे अनुपलब्ध है। इसका कारण मैं यह समझता हूँ कि शायद दार्शनिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामान्य व्यवहार मे ऐसी अनुभूतियो को सामान्य सज्ञा देने की आवश्यकता कदाचित प्रतीत न हुई हो। अतएव हम इस सम्बन्ध मे कुछ स्वतत्र हैं और हम उन्हें सस्कार कह सकते हैं जिसका तात्पर्य साधारण वाच्य से कुछ पृथक् सा है। मेरा आशय 'सस्कार' पद से यह है कि सस्कार उन सब सजीव अनुभूतियो को कह सकते हैं जो हमे इन्द्रियजन प्रत्यक्ष से होती हो अथवा इच्छा, अनिच्छा, अथवा राग, द्वेष आदि के रूप मे प्रकट होती हैं। इस दृष्टि से 'सस्कार' कल्पना से भिन्न माने जा सकते हैं और दोनो की सजीवता एव तीव्रता मे भेद हम अपनी अनुभूतियो पर परामर्श करने पर स्वय ही समझ सकते हैं।

१३. आपातत , कोई वस्तु इतनी अमर्यादित नही पायी जाती जितनी कि मानव विचारधारा जो समस्त मानव शक्ति एव अधिकार से परे होकर मानव प्रकृति तो क्या, वह यथार्थ ही की सीमा मे नही बँध पाती। कारण, दानवो की कल्पना करने मे अथवा विचित्र आकृतियो एव रूपो को मानसिक चित्र देने मे उतना ही आयास करना होता है जितना कि किसी स्वाभाविक अथवा सुपरिचित वस्तु के चित्र ग्रहण मे होता है। हमारा शरीर तो इसी एक पृथ्वी की सीमाओ मे ही कठिनाई और दुख से रेंग पाता है पर हमारा मन तो हमे कल्पना द्वारा एक क्षण मे सृष्टि के अनेक सुन्दर लोको की सैर करा देता है। इतना ही नही परन्तु सृष्टि से भी पूर्ववर्ती अव्यवस्थित प्रकृति के अन्तर्गत मे भी विहार करा सकता है। जो कभी देखा-सुना भी नही है उसकी भी कल्पना करा देता है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि परस्पर नितान्त विरोधी विषयो को छोड़ अन्य

कोई भी विषय कल्पनाशक्ति की सीमा से बाह्य नही है।

परन्तु यद्यपि हमारी कल्पनाशक्ति अबाध स्वातंत्र्य लिए हुए दीखती है तथापि यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि मन की भी सीमाएँ अत्यन्त सकीर्ण है और उसकी यह रचनात्मक शक्ति, बाह्यान्द्रिय अथवा आन्तरिन्द्रिय के गोचर विषयो द्वारा उपस्थित पदार्थों का सम्मिश्रण, परिवर्तन, सकोचन अथवा स्थानान्तरीकरण के व्यापार तक ही सीमित है। जब हम सुमेरु की कल्पना करते हैं तो हम केवल पूर्वकृत प्रत्यक्ष दो पदार्थ, सुवर्ण एव पर्वत को एकत्र कर देते है। एक सुशील अश्व की हम कल्पना कर सकते है, कारण, हमे सौशील्य का अलग से बोध है जिसे हम अश्व की मूर्ति से मिला देते हैं। सक्षेप मे यह कहना पर्याप्त है कि हमारी कल्पना के समस्त विषय हमारे बाह्य अथवा आभ्यान्तरिक भावो से ही उद्धृत हैं। उनका सम्मिश्रण अथवा सयोग हमारी मानसिक इच्छा पर निर्भर है। अथवा यदि दार्शनिक भाषा मे कहा जाय तो यह होगा कि हमारी समस्त निर्बल अनुभूतियाँ अधिक तीव्र और सजीव अनुभूतियो की अनुकृति मात्र है।

१४ उपर्युक्त साध्य को प्रमाणित करने के लिए मैं आशा करता हूँ कि दो ही तर्क पर्याप्त होगे। हमारे विचार कितने ही सम्मिश्र या उदात्त क्यों न हो, हम जब उनका विश्लेषण करते है तो ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे किसी न किसी पूर्वानुभूत भाव की ही अनुवृत्तियाँ हैं जो विचार प्रथम आलोक मे पूर्वानुभूत भाव से अत्यन्त दूरवर्ती एव स्वतत्र प्रतीत होते हैं वे भी सूक्ष्म अवलोकन के पश्चात् उन्ही से समुद्भूत पाये जाते हैं। ईश्वर की कल्पना जो हमे ईश्वर को चिद्रूप, ज्ञानसम्पन्न एव सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप मे होती है वास्तव मे वह हमारे उस मनोव्यापार से निकलती है जिसमे हम उसके सद्गुणो एव ज्ञान की सत्ता को अपरिच्छेद्यरूप मे बढा-चढा कर कर करते है। इस विमर्श को हम चाहे जितनी दूर तक आगे ले जाँय परन्तु हम सर्वत्र यही पायेंगे कि हमारा हर विचार हमारे किसी न किसी पूर्वभाव का सस्कार मात्र है। जो लोग यह कहेंगे कि यह तर्क सर्वत्र सत्य अथवा निरपवाद नही है उनसे खण्डन के लिए इतना

ही कहना पर्याप्त होगा कि वे ऐसा एक भी उदाहरण प्रस्तुत करें जो यह निर्दिष्ट करे कि हमारे विचार पूर्वानुभूति से ही प्रादुर्भूत नही हैं। उस स्थिति मे यह भार हम पर होगा कि अपने सिद्धान्त को दृढ करने के लिए हम ऐसे सस्कार अथवा सजीव प्रत्यक्ष उपस्थित करें जिनसे कि उनका निर्माण हुआ हो।

१५ दूसरी युक्ति—यदि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय दोष के कारण मानव किसी खास प्रत्यक्ष के ग्रहण करने मे असमर्थ हो तो—यह पाया गया है कि वह तत्सदृश कल्पना का भी अनुभव नही कर पाता है—जैसे अन्वे को रूप का प्रत्यक्ष नही होता और न वहिरे का शव्द का। यदि उसका वह दोप दूर करा दिया जाय और उसके लिए नये प्रत्यक्षो का स्रोत खोल दिया जाय तो अवश्य ही नयी भावनाओ के लिए भी द्वार खुल जायेंगे और उसे नये विषयो को ग्रहण करने मे कोई भी कठिनाई न होगी। ठीक उसी प्रकार की स्थिति यह भी है कि जिसमे व्यक्ति को इन्द्रिय ग्राहृय विपय का सन्निकर्प ही कभी न हुआ हो। उदाहरणार्थ किसी नीग्रो या एस्किमो को मदिरा के स्वाद की कल्पना न होगी। अपनी जाति के सहज भावो अथवा मनोदौर्वल्य के उदाहरण वहुत ही कम होगे, तथापि इसी तत्व को कुछ कम मात्रा मे हम यहाँ भी पाते हैं, जैसे विनम्र स्वभाव के व्यक्ति को दारुण प्रतिशोध अथवा नृशसता के भावो की कल्पना हो ही नही सकती और कभी स्वार्थी को उदारता अथवा सौहार्द्र के उद्रेक की। यह तो सहज ही माना जा सकता है कि और लोगो मे ऐसी अनेक भावो की उत्पत्ति हो सकती है जिनकी हमे कोई कल्पना भी न हो। कारण उन भावो का प्रत्यक्ष हमे तो कभी उस तरह हुआ नही जिस तरह कि सदा हमे और वस्तु का होता है—यानी कि केवल वस्तु सन्निकर्प के द्वारा। हाँ, एक प्रत्युदाहरण अवश्य है जो यह वतलाता है कि विचारो के लिए यह नितान्त असम्भाव्य नही कि वे तत्सहोदर सस्कारो के विना भी उत्पन्न हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि यह सभी मान लेंगे कि चक्षु-रेन्द्रिय से गृहीत विभिन्न शाब्दिक प्रतिमाओ मे परस्पर विभेद होना ही है, यद्यपि वे आपस मे सदृश भी हैं। और यदि यह विभिन्न वर्णों के

विषय मे सत्य है तो एक ही वर्ण के विविध रूपो अथवा आभा (छाया) के सम्बन्ध मे भी यह उतना ही सत्य है और प्रत्येक आभा इतर आभा से अवश्य ही विविक्त होती है और विभिन्न मानस प्रतिमाओ को उत्पन्न करती है। यदि इसे अस्वीकार किया जाय तो एक ही रग की विविध आभाओ मे लगातार मात्रा भेद करने से एक वण अपने से अन-जाने ही मिल जायगा और यदि उन दो मे विभेद का कोई आधार नही माना जाय, तो दो विविक्त सीमाओ पर वर्तमान वर्णभेद नष्ट हो जायगा और ऐसा होना अवश्य ही असगत होगा। मान लो, कि एक पुरुष तीस साल तक बराबर अपनी दृष्टि का सुख लेता रहा है और सिवाय नीले रग के किसी एक विशेष आभा को छोडकर, जिसका प्रत्यक्ष होने का उसे कभी सौभाग्य प्राप्त ही नही हुआ, सभी अन्य विविध वर्ण के अन्तर से परिचित है। उसके सामने उस एक नीले रग की उस खास आभा को छोडकर अन्य वर्णो की सभी आभाएँ रखी जाँय—गहरी से गहरी लगा-तार हल्की से हल्की तक, तो यह स्पष्ट है कि वह अवश्य ही उन आभाओ की कतार मे यह जगह अवश्य महसूस कर लेगा जहाँ भी वह अदृष्टपूर्व आभा अनुपस्थित है और वह यह भी अनुभव करेगा कि उस स्थान पर आसपास के वर्णों मे भारी फर्क है। तो अब मैं यह पूछता हूँ कि क्या वह पुरुष अपनी कल्पना से उस कमी को पूरा कर सकेगा और उस अनु-पस्थित आभा की कल्पना कर सकेगा, जिसका कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसे पूव मे कभी भी नही हुआ था ? मुझे विश्वास है कि ऐसे कम विचारक होगे, जो इसे मान लेंगे कि वह पुरुष ऐसी अवस्था मे अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर उस अपरिचित आभा का ध्यान न कर पायेगा और यह उदाहरण यह सिद्ध कर देगा कि सीधी-सादी कल्पना या विचार हर जगह अपने सहचर सस्कार की अपेक्षा नही रखते। परन्तु ऐसा उदाहरण तो एक-आधा ही हो सकता और इसके आधार पर अपने सामान्य नियम को बदलना सर्वथा असगत होगा।

१७ अत यहाँ एक सिद्धान्त प्राप्त होता है जो न केवल सीधा और सुगम ही है, परन्तु उचित प्रयोग करने पर हर दलील को सुगम बना

देगा और जो दार्शनिक तर्को मे उपस्थित कलक और जजाल को एक दम हटा देगा। समस्त प्रतिभास विशेषकर वे जो स्वभावत दुर्बोध और अस्पष्ट होते है, मन उन पर बहुत ही दुर्बल अधिकार रख पाता है, वे सदृश भावनाओ से घुल मिल कर एकसा प्रतीत होने लगते है और जब किसी एक प्रतिभास को कोई खास नाम दे दिया जाता है तो अर्थ विशेष न होते हुए भी हमे यही भास होता है कि उस पद से किसी निश्चित मानसिक प्रतिभा का सकेत है। हालाकि वास्तव मे ऐसा नही है। हमारे समस्त सस्कार अर्थात् भावनाए चाहे वे वाह्य हो अथवा आभ्यन्तर, निश्चित रूप से सुस्पष्ट एव तीव्र होती है और उनकी सीमाएँ अधिक निश्चित रूप मे निर्धारित की जा सकती है और उनके सम्बन्ध मे गलती करना अथवा भेद को न पहचान सकना आसान नही होता। अतएव जब हम किसी दार्शनिक शब्द के विषय मे ही कही सन्देह रखते हो —जैसा कि अधिकाश होता है —हमे केवल इतना ही विमर्श करना चाहिए कि वह कल्पित प्रतिभास किस सस्कार पर आधारित है। और यदि यह जान लेना असम्भव हो तो हमारा सन्देह स्थिर हो जायेगा। हमें आशा है कि प्रतिभासो को इतने सुस्पष्ट रूप मे रख देने से उस विवाद का अन्त हो जायगा जो उनके स्वभाव अथवा तात्विकता[1] के विषय मे उठता रहता है।

---

१ यह सम्भाव्य है कि प्रागनुभव प्रत्यय के अस्तित्व को न मानने वालो का तात्पर्य केवल यही रहा हो कि समस्त प्रतिभास पूर्वानुभूत सस्कारों के प्रतिरूप मात्र हैं—यद्यपि इतना अवश्य कहना होगा कि इस सम्बन्ध मे प्रयुक्त पदावली न तो सावधानी से चुनी गयी थी और न इतनी सुविख्यात थी कि अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सकल त्रुटियों को अपास्त कर सके। कारण प्रागनुभव प्रत्यय से क्या तात्पर्य है? यदि प्रातिस्विक केवल नैसर्गिक का ही पर्याप्त है तो सब ही मानसिक प्रतिभास या भावनाएँ प्रातिस्विक या नैसर्गिक कही जा सकती हैं। नैसर्गिक का अर्थ कुछ क्यो न हो—चाहेँ वह असाधारण कृतिम अथवा अद्भुत

सस्कार एव प्रतिभास का अर्थ उपर्युक्त अर्थ मे स्वीकार कर लेने पर, तथा प्रातिस्विक शब्द से मौलिक अथवा किसी पूर्वानुभूत प्रत्यक्ष पर अनावलम्बित आभास का बोध स्वीकृत कर लेने पर हम यह निश्चय-पूर्वक से कह सकते हैं कि हमारे समस्त सस्कार प्रातिस्विक हैं और समस्त प्रतिभास अप्रातिस्विक। मेरी राय मे तो लाक महाशय इस प्रश्न मे उन रूढिवादी अध्यापक वर्ग के फन्दे मे फस गये हैं जो कि अपरिभाषित पदावली का प्रयोग करते हुए व्यर्थ की सी लम्बी दलील मे उतर आते हैं और विचार्य प्रश्न के केन्द्र का स्पर्श भी नही करते। इसी प्रकार की अस्पष्टता एव उलझन की पुनरुक्ति अन्य कई विषयो पर भी इसी दार्शनिक के तर्को मे सर्वत्र व्याप्त दीखती है।

का विरोधी ही हो। यदि प्रातिस्विक का मतलब यह हो कि वह हमारे साथ जन्मजात है तो फिर यह दलील व्यर्थ सी प्रतीत होती है क्योकि उस विचार से कोई फल नहीं है कि हमारे मत का विचारात्मक व्यापार हमारे जन्म से पूर्व या पश्चात् प्रारम्भ होता है। और यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रतिभास शब्द का प्रयोग लाक आदि के द्वारा प्राय बडे अनिश्चित अर्थ मे किया गया है, उनके अनुसार 'प्रति-भास' शब्द हमारे प्रत्यक्ष भावनाएँ अथवा वासनाएँ एव विचारो का वाचक प्रतीत होता है। यदि यही इस शब्द का अर्थ हो तो मैं यह जानना चाहूँगा कि इस कथन मे क्या अर्थ है कि प्रेम अथवा स्वहानि के प्रति अरुचि कामोद्वेग आदि प्रातिस्विक नहीं है ?

तृतीय परिच्छेद

प्रत्यय साहचर्य

१८. यह स्पष्ट है कि विविध मनोभावो अथवा विचारो मे परस्पर एक नियत सम्बन्ध है और वे मानव-स्मृति अथवा कल्पना के सामने प्रादुर्भूत होते समय एक निश्चित क्रम एव प्रकार से ही एक दूसरे को प्रकट करते है। जब हम किसी गम्भीर विचार अथवा चर्चा मे सलग्न होते हैं तब यह प्रतीत होता है कि सहसा प्रादुर्भूत होने वाला कोई खास विचार तत्कालीन विचारधारा मे सहसा उपस्थित होने पर एकदम हमारी पकड मे आ जाता है और दूर हटा दिया जाता है। इतना ही नही बल्कि जब हम धारावाहिक अनुक्रमहीन विचार परम्पर मे पतित हो जाते हैं तब भी, यदि हम सोचें तो मालूम होता है, कि हमारी कल्पनाएँ लक्ष्यहीन एव निर्विकल्प नही होती परन्तु वहाँ भी विभिन्न विचारो मे एक अनुक्रम तथा पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य होता है। यदि हम किसी नियन्त्रित तथा मुक्त वार्तालाप को कभी लिपिबद्ध करें तो तुरन्त ही हमारे सामने उन विचारो की विविध परिवृत्तियो या अवस्थाओ मे कोई न कोई सम्बन्ध अथवा क्रम अवश्य स्फुट हो जायगा। यदि कभी ऐसा सम्बन्ध या क्रम प्रतीत न हो तो उस चर्चाक्रम को भग करने वाला तुरन्त ही आपको यह बता देगा कि उसके मस्तिष्क मे उसी प्रकार का विचार-क्रम अन्तर्निहित था जिसने उसे उस चर्चा को प्रस्तुत करने मे प्रोत्साहित किया था। विभिन्न भाषाओ मे भी—जहाँ किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध या अन्तर्गत का अस्तित्व नही माना जाता—यह पाया जाता है कि सार्थकपदावली चाहे कितनी भी सम्मिश्र क्यों न हो समरेव होती हैं और एक दूसरे के निकट ही रहती हैं—यह इस तत्व का निश्चित प्रमाण है कि सीधे-साढे मानव विचार अन्य सम्मिश्र विचारो के साथ-साथ विश्लेषित किये जाने पर किसी व्यापक सिद्धान्त से बँधे हुए पाये जाते है जो समस्त मानव जाति पर एक सा प्रभाव जमाए हुए हैं।

१९ यह सिद्धान्त कि 'मानव के विविध विचार सदा परस्पर सम्बद्ध होते हैं' यद्यपि इतना स्फुट है कि इसका अन्वेषण करने की आवश्यकता नही तथापि मैं ऐसे किसी दार्शनिक को नही जानता जिसने ऐसे सम्बन्धो का परिगणन अथवा वर्गीकरण किया हो—यह विषय जो इतना आकर्षक है मुझे तो विचारो मे तीन प्रकार का सम्बन्ध दीख पडता है—सादृश्य सबध, देश या काल का एकाधिकरण सम्बन्ध और कार्य कारण सम्बन्ध।

मुझे विश्वास है कि इसमे कोई भी सन्देह न करेगा कि ये नियम हमारे विचारो के परस्पर सम्बन्ध के आधार है। एक सम्बन्ध हमे स्वभावत प्रति रूप से उसके मौलिक रूप की ओर ले जाता है, तो दूसरा भवन के कक्ष की चर्चा के समय हमे अन्य कक्षो के विषय मे जिज्ञासा या चर्चा प्रस्तुत करता है। और यदि हम किसी घाव का ध्यान करते हैं तो तज्जन्य वेदना का ध्यान किये विना हम नही रह सकते। तथापि विचारो के परस्पर सम्बन्ध इन्ही तीन प्रकार के होते हैं। और उसके अन्य प्रकार नही हो सकते यह नही कहा जा सकता। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि हम अनेक उदाहारणो का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें और विभिन्न विचारो के आधारभूत सम्बन्धो की सूक्ष्मता के साथ गवेषणा करें और तब तक विराम न लें जब तक हम किसी सर्वसामान्य व्याप्ति के ग्रहण मे समर्थ न हो जाय। अधिकाधिक निर्देशनो का विश्लेषण करने पर और अधिकाधिक सावधानी का प्रयोग करने पर हम और भी ऐसे अधिक विश्वास एव दृढता को प्राप्त कर सकेंगे जिसके बल पर यह कहा जा सकेगा कि हमारा परिगणन हमारे समग्र अन्वेषण के आधार पर प्रमाणित और पूर्ण एव व्यापक है।

१ सादृश्य, २ एकाधिकरण, ३, हेतु हेतु मद्भास, ४, उदाहरणार्थ-विरोध अथवा वैषम्य भी विचारगत सम्बन्ध का एक भेद हो सकता है, परन्तु सम्भवत वह केवल सादृश्य एव हेतु हेतु मद्भास का सम्मिश्रण मात्र ही कहा जा सकता है—जहा दो वस्तुए एक दूसरे की विरोधी अथवा परस्पर विषम होती हैं तो एक दूसरे का ध्वस कर देती हैं, अर्थात् उसके ध्वस का कारण और ध्वस का विचार ये दोनो ही उस वस्तु के प्राग्भाव की कल्पना को लेकर ही प्रस्तुत होते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

बौद्धिक व्यापार सम्बन्धी सन्देहवादी शकायें

२० मानव-बुद्धि अथवा अन्वेषण के सकल विषय स्वभावत दो प्रकार से विभाजित किये जा सकते हैं ? विचार सम्बन्धी और पदार्थ सम्बन्धी। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित जैसे विज्ञान रखे जा सकते है। सक्षेपत कोई भी भावात्मक वाक्य जो स्वत सिद्ध या निर्देशन द्वारा निश्चित हो वह इस प्रथम वर्ग के बौद्धिक यापार का विषय है। यथा प्रत्येक कर्ण का वर्ग दो भुजाओ के वर्ग का सम होता है—यह प्रतिज्ञा ऐसी है जो दो आकृतियो के पारस्परिक सम्बन्ध को बताती है। पाच का तिगुना तीस का आधा है यह प्रतिज्ञा इन्ही सख्याओ के बीच वर्तमान सम्बन्ध को प्रकट करती है। इस प्रकार की वाक्य प्रतिज्ञाए केवल विचारात्मक व्यापार से आविष्कृत होती हैं और वह इस पर निर्भर नही है कि यह वास्तव मे इस विश्व मे है या नही। यदि प्रकृति मे त्रिभुज अथवा वृत न भी हो तो भी यूक्लिड निर्दिष्ट प्रतिज्ञाए सदा के लिए अपनी निश्चित सत्यता अपनाये ही रखती है।

२१ वास्तविक पदार्थों का परामर्श इस प्रकार नही किया जा सकता और न उनकी सत्यता के प्रमाण ही पूर्वोक्त वर्ग सुमदृश हो सकते हैं। प्रत्येक वस्तु के प्रतियोगी की सत्ता बिलकुल सभव है, कारण, इसमे कोई विरोध नही और प्रतियोगी तथा अनुयोगी दोनो वस्तुओ का बौद्धिक परामर्श समान स्पष्टता तथा सुगमता के साथ हो सकता है मानो दोनो ही के सत्य के लिए विश्व को कोई आपत्ति नही। कल सूर्य उदित न होगा यह प्रतिज्ञा किसी भी अश मे कल सूर्य उदित होगा इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा न तो कम माननोय है और न अधिक प्रतिवाद ही का विषय है। अतएव उक्त प्रतिज्ञा की अयथार्थता दिखाने का यत्न व्यर्थ ही होगा। कारण, इसकी अयथार्थता यदि दिखाई जा सकती हो तो

अवश्य यह प्रतिज्ञा प्रतिवाद का विषय होती और स्पष्ट रूप से मन के द्वारा आकलित कदापि न होती ।

अतएव यदि तात्विक सत्ता अथवा पदार्थगत वास्तविकता हमारे प्रत्यक्ष अथवा स्मृति के अतिरिक्त अन्य प्रमाणो द्वारा सिद्ध की जा सकती हो तो उन प्रमाणो का अध्ययन अवश्य ही एक जिज्ञास्य विषय वन जाता है । दर्शन का यह विषय न तो प्रचीन और न अर्वाचीन विद्वानो द्वारा पुरस्कृत किया गया है । अवएव इतने महत्व के विषय मे हमारी गवेपणा, शका एव त्रुटियो से मुक्त नही हो सकती है और वे क्षम्य है जव कि हमे इस दिशा मे बिना किसी सहायता एव दिग्दर्शन के ही आगे बढना है । सम्भवत यह अवस्था हमारी जिज्ञासा को प्रोत्साहित कर अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। कारण, पूर्वाचार्या के मत का अभाव हमारे अन्दर के अन्धविश्वास एव सुरक्षा के भावो को जो समस्त तर्क एव स्वतन्त्र गवेषणा मे महान् हानिकारक है ध्वस कर देगा । मेरी राय मे सामान्य दर्शन मे दोषो का निकलना तो हमे निराश नही वना सकता । प्रत्युत वह उत्तेजक ही सिद्ध होगा जिससे हम जनता के समक्ष कुछ ऐसी वात रख सकेंगे जो उनके सामने कभी न आयी हो ।

२२ पदार्थगत वास्तविकता के सम्बन्ध मे समस्त तर्क हेतु हेतु-मद्भाव के नियम पर ही अवलम्बित होते हैं। केवल इसी सम्वन्ध के आधार पर हम यहा अपने तर्क मे प्रत्यक्ष एव स्मृति के बाहर ऊपर तक पहुच सकते हैं। यदि आप किसी भी व्यक्ति से किसी अनुपस्थित तथ्य पर उसके विश्वास का कारण पूछें—जैसे कि उसका मित्र देश मे है या विदेश मे—तो वह अवश्य उसका कारण बतायेगा । और वह अवश्य ही वस्तु-परक के होगा जैसे कि उसका पत्र अथवा उसके पूर्वकृत निश्चय। कारण किसी निर्जन प्रदेश में किसी यन्त्र अथवा घडी को पाकर मानव यही सोचेगा कि अवश्य वहा कभी कोई न कोई रहता था या आया था। वस्तु सम्वन्धी हमारे सव ही तर्क इसी प्रकार के होते है । साथ ही साथ यह भी माना जाता है कि वर्तमान तथा अनुमेय तथ्य मे एक प्रकार का सम्बन्ध होता है । यदि प्रत्यक्ष एव अनुमति विषय के बीच कोई

सम्बन्ध न हो तो सारा अनुमान एकदम खतरनाक हो जायगा। अन्धेरे मे एक स्पष्ट स्वर अथवा सगत सम्वाद सुनने पर हमे किसी पुरुष के अस्तित्व की कल्पना होती है। क्यो—? कारण यही है कि मानव जन्य स्वर या सम्वाद का अवश्य ही मानव के अस्तित्व से निकट सम्बन्ध है। इस प्रकार के अन्य तर्को का भी यदि हम सागोपाग विश्लेषण करें तो यह प्रतीत होगा कि वे तर्क भी हेतु हेतु मद्भाव पर ही आधारित है और यह भी ज्ञात होगा कि यह सम्बन्ध साक्षात है या पारस्परिक अथवा निकट या दूर प्रकाश एव उष्णता अग्नि के सहधर्मी परिणाम हैं और एक ही सत्ता के वल दूसरे की सत्ता अनुमानित की जा सकती है।

२३ यदि हमे इस प्रकार के प्रमाण से सन्तुष्ट होना हैं जा हमे वस्तु सत्ता को प्रमाणित करता है तो हमे यह भली प्रकार जानना चाहिए कि कार्य से कारण का ज्ञान किस रीति से होता है।

सामान्य मैं यह निर्विवाद कह सकता हू कि कार्य कारण भाव का ज्ञान कही भी प्रास्तविक तर्क द्वारा प्राप्त नही हो सकता, परन्तु अनुभाव से ही होता है। जव हम यह जानते हैं कि दो वस्तुओ का अविनाशीव सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति चाहे कितनी ही वलवती तार्किक शक्ति एव वौद्धिक योग्यता का क्यो न हो यदि उसके सामने एक सर्वथा नूतन पदार्थ रख दिया जाय तो उस वस्तु के समस्त इन्द्रियग्राह्य धर्मो का सूक्ष्मतम अवलोकन करने पर भी वह न उसके कारणो को और कार्यो को ही ढूँढ निकाल सकेगा। यद्यपि प्रारम्भ से ही एडम को वौद्धिक शक्ति सर्वथा पूर्ण मान ली जाय तो भी वह जल को पारदर्शकता एव अनुस्यूत वहनशीलता को देखकर यह कभी नही जान सकना कि जल सास रोककर उसका गला घोट सकता है और वह उसे जलाकर रख देगा। ऊपरी इन्द्रिय-ग्राह्य आलोक से न तो किसी वस्तु का कारण और न उसका परिणाम ही कभी ज्ञात हो सकता है, और न हमारी वुद्धि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध मे विना अनुभव की मदद के तर्क ही कर सकती है।

२४ कार्य एव कारण वुद्धि या तर्क से नही वरन् अनुभव से जाने जाते हैं—यह सिद्धान्त तत्परता से स्वीकृत किया जा सकेगा, कारण, हम

जानते है कि जो पदाथ पूव परिचित नही ह उसमे जन्य परिणाम के सम्बन्ध मे भी हम कोई पूर्व कथन नही कर सकते। किसी प्रकृति विज्ञान से हीन व्यक्ति के सामने दो सगमरमर के टुकडे रख दिये जाय तो वह इस वात को कभी न जान सकेगा कि उन्हे समरेत, रखकर, उन्हे पृथक करने मे बडे पयास की अपेक्षा होगी। और उन पर पार्श्वगामी आघात करने पर वे वडी आसानी से टट जाते है। प्रकृति की कम समानता रखने वाली अनेक स्थितिया मे भी इस तरह का ज्ञान अनुभव मात्र से ग्राह्य माना जाता है। वैसे ही यह कल्पनातीत है कि वम का विस्फोट अथवा चुम्बक का आकर्षकत्व कभी अनुभव निरपेक्ष तक मात्र स जाना जाय। उसी तरह पेचीदी मशीन अथवा उसके अवयवो के अपरिचित याजना पर निर्भर परिणामो के सम्वन्ध मे हमारा सकल ज्ञान अनुभव साध्य ही है, यह मान लेने मे हमे कोई कठिनाई नही होती। कौन यह कह सकता है कि वह इस वात का मूल कारण वतला सकता है कि दूध और रोटी मानव के लिए क्यो उचित पोषक है और वही सिंह, व्याघ्र के लिए नही है।

परन्तु वस्तुओ के सम्बन्ध मे उन तथ्यो को जिनसे कि हम जन्म ही से परिचित हैं पृथक आलोक मे नही जान सकते। अथवा जो प्राकृतिक निसर्ग के एकदम अनुरूप हो या जो पदार्थों के साधारण स्वरूप पर अवलम्वित हो और जिनका ढाचा अन्तर्निहित सूक्ष्म अगो पर निर्भर न हो, हम प्रथम आलोक मे नही जान सकते। हम ऐसा समझने लगते है कि ऐसे परिणामो का ज्ञान हम विना अनुभव के अपनी वुद्धि से ही कर सकते हैं। हम समझते हैं कि हम यकायक इस दुनिया मे आते ही तुरन्त अनुमान कर लेते कि विलियर्ड की एक गेंद स्वय ही दूसरी गेंद को गति प्रदान कर देगी और इस बात को निश्चय के साथ कह सकने के लिये हमे उसकी प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता न होती। रूढि का यही प्रभाव है कि जहा कही वह वलवती होती है वहा वह हमारे नैसर्गिक अज्ञान को छुपा ही नही लेती परन्तु स्वय अपने को भी छुपा लेती है और उसका अस्तित्व हमे ठीक इसी कारण से प्रतीत नही होता कि वह सर्वाधिक मात्रा मे सर्वत्र वर्तमान है।

सम्बन्ध न हो तो मारा अनुमान एकदम खतरनाक हो जायगा। अन्धेरे मे एक स्पष्ट स्वर अथवा सगत सम्वाद सुनने पर हमें किसी पुरुष के अस्तित्व की कल्पना होती है। क्यो—? कारण यही है कि मानव जन्य स्वर या सम्वाद का अवश्य ही मानव के अस्तित्व से निकट सम्बन्ध है। इस प्रकार के अन्य तर्कों का भी यदि हम सागोपाग विश्लेपण करें तो यह प्रतीत होगा कि वे तर्क भी हेतु हेतु मद्भाव पर ही आधारित है और यह भी ज्ञात होगा कि यह सम्बन्ध साक्षात है या पारस्परिक अथवा निकट या दूर प्रकाश एव उष्णता अग्नि के सहवर्मी परिणाम है और एक ही सत्ता के वल दूसरे की सत्ता अनुमानित की जा सकती है।

२३ यदि हमे इस प्रकार के प्रमाण से सन्तुष्ट होना है जो हमे वस्तु सत्ता को प्रमाणित करता है तो हमे यह भली प्रकार जानना चाहिए कि कार्य से कारण का ज्ञान किस रीति से होता है।

सामान्य मैं यह निर्विवाद कह सकता हू कि कार्य कारण भाव का ज्ञान कही भी प्रास्तविक तर्क द्वारा प्राप्त नही हो सकता, परन्तु अनुभाव से ही होता है। जव हम यह जानते हैं कि दो वस्तुओ का अविनाशीव सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति चाहे कितनी ही वलवती तार्किक शक्ति एव वौद्धिक योग्यता का क्यो न हो यदि उसके सामने एक सर्वथा नूतन पदार्थ रख दिया जाय तो उस वस्तु के समस्त इन्द्रियग्राह्य वर्मों का सूक्ष्मतम अवलोकन करने पर भी वह न उसके कारणो को और कार्यों को ही ढूँढ निकाल सकेगा। यद्यपि प्रारम्भ से ही एडम की वौद्धिक शक्ति सर्वथा पूर्ण मान ली जाय तो भी वह जल की पारदर्शकता एव अनुस्यूत वहनशीलता को देखकर यह कभी नही जान सकता कि जल सास रोककर उसका गला घोट सकता है और वह उसे जलाकर रख देगा। ऊपरी इन्द्रिय-ग्राह्य आलोक से न तो किसी वस्तु का कारण और न उसका परिणाम ही कभी ज्ञात हो सकता है और न हमारी वुद्धि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध मे विना अनुभव की मदद के तर्क ही कर सकती है।

२४ कार्य एव कारण वुद्धि या तर्क से नही वरन् अनुभव से जाने जाते हैं—यह सिद्धान्त तत्परता से स्वीकृत किया जा सकेगा, कारण, हम

२५ समस्त प्राकृतिक नियम तथा समस्त तत्वो की क्रिया निरपवाद रूप से अनुभव मात्र से ज्ञेय होती है—इस सिद्धान्त को स्थिर करने के लिए निम्नलिखित विचार सम्भवत पर्याप्त होगे ।

यदि हमारे सामने कोई पदार्थ रखा जाय और फिर उससे जन्य कार्यों के सम्बन्ध मे पूछा जाय तो मैं पूछता हूँ कि इस विषय मे आप के मन की गति किस प्रकार की होगी ? मन को किसी न किसी परिणाम को ढूंढ निकालना होगा जो प्रस्तुत पदार्थ का कार्य कहा जा सके । और वह अवश्य ही काल्पनिक होगा, क्योकि कितनी ही बारीक छानबीन अथवा जाच करने पर भी मन उस पदार्थ से सम्भाव्य कार्य की कल्पना नही कर सकता । वजह यह है कि कार्य कारण से इतना भिन्न है कि किसी भी तरह वह उसमे अन्तर्गत देखा नही जा सकता । बिलियर्ड की दूसरी गेंद की स्पन्द पहली गेद के स्पन्द से बिल्कुल भिन्न है और न वहा कोई ऐसा सकेत है जो दूसरी की सत्ता को सूचित कर दे । पत्थर अथवा किसी धातु का टुकडा लीजिये और उसे आकाश मे उछालिये, वह निराधार होने के कारण एकदम नीचे आ जायगा । अब यदि इसी बात को हम प्रारम्भिक तर्क के बल सोचें तो क्या उसमे कोई बात है जो हमे भिन्न गति की कल्पना करा के और ऊर्ध्वगति अथवा अन्य किसी प्रकार की गति की कल्पना न करा सके ।

२६ यह तो स्वीकृत है कि मानव बुद्धि के व्यापार की चरम सीमा तार्किक, सादृश्य, अनुभव तथा निरीक्षण के बल पर केवल ऐसे सिद्धान्तो को निर्धारित करने मे है जो वस्तुगत के अनेक कार्यजात को कुछ सामान्य कारणो मे परिघटित कर सकें । परन्तु इन कारणो के कारण ढूंढ निकालने का हमारा यत्न सवथा व्यर्थ है और उनके अविष्कार से हमे बौद्धिक सन्तोष ही मिल सकेगा । (वस्तुओ की पहली अथवा बुनियादी जन्मजात जिज्ञासा अथवा अन्वेषण से सदा के लिये बन्द है) आकुचन, आकर्षण, आंगिक सल्ग्नता और परस्परिक गति प्रदान आदि ही कुछ ऐसे आभ्यन्तर कारण तथा नियम हैं जिन्हे हम सदा प्रकृत मे पाते हैं और यदि सूक्ष्म अन्वेक्षण के फलस्वरूप हम वस्तु विशेष के ज्ञान को इन सामान्य सिद्धान्तो

तक पहुचा सके तो हम अपने आपको पर्याप्त सुखी समझ सकते है। हमारा प्राकृतिक ज्ञान कितना ही पूर्ण क्यो न हो वह हमारे अज्ञान को कुछ अधिक काल तक केवल पीछे ढकेले रहता है। सभवत नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शन कितना ही उच्च क्यो न हो विश्व के अधिकाश को ही समझने मे समर्थ है। समस्त दर्शन हमे मानव की दुर्बलता तथा अन्धत्व ही दिखाते हैं और हम चाहे कितना ही उससे बचने या हटाने का प्रयत्न क्यो न करें, वह हमारे सामने प्रतिपद उपस्थित रहता है।

२७ प्राकृतिक दर्शन को सहाय के लिए यदि रेखागणित की भी शरण ली जाय तो वह भी इस दोष को दूर करने मे समर्थ नही होती और न वह हमे अपने सुप्रसिद्ध तार्किक प्रमाणिकता के द्वारा चरम कारणो के ज्ञान तक ही पहुचा सकती है। सम्मिश्र गणित विज्ञान इसी मान्यता को लेकर आगे बढता है कि प्रकृति सदा किन्ही निश्चित नियमो के अनुसार ही काम करती है और सूक्ष्म तर्क तो केवल इन नियमो के शोध मे अनुभूति प्राप्त करने अथवा ऐसे स्थल विशेष पर उनका प्रभाव निश्चित करने म सहायक हैं जहा वह देश और परिमाण की किसी निश्चित मात्रा पर निर्भर है। उदाहरणार्थ यह एक अनुभव सिद्ध गतिनियम है कि किसी भी गतिमान वस्तु की तीव्रता सदा मिश्र अथवा परिशुद्ध अनुपात मे या तद्गत घन द्रव्य और उसके वेग के अनुपात मे होगी, फलत स्वल्प शक्ति भी बडे से बडे बाधक को हटा सकती अथवा भारी से भारी बोझ को उठा सकती है यदि हम किसी तरकीब से अथवा यन्त्र द्वारा उस शक्ति के वेग को उतना बढा दें कि वह अपने प्रतिस्पर्धी के बल से अधिक तीव्र हो जाय। हमे इस नियम के उपयोग मे सहायक होती है—वह किसी भी यन्त्र विशेष मे प्रवेश कर सकने वाले पुर्जे अथवा आकृतिया लम्बाई चौडाई ठीक-ठीक बता सकती हैं, तथापि इस नियम का आविष्कार स्वय साक्षादनुभव पर ही अवलम्बित है और केवल तर्क हम इस ज्ञान के पथ पर एक कदम भी आगे नही बढा सकता। जब हम प्रागनुभव तर्क करने लगते हैं और प्रत्यक्ष से अनाश्रित रहकर हम किसी भी वस्तु अथवा उसके कारण पर जैसा मन मे आये वैसा विचार करने लगें तो

वह शुद्ध तर्क हमे किसी भी द्रव्य के सुस्पष्ट स्वरूप का प्रतिभास नही दे सकता। वह उसके परिणाम को नही बता सकता और तब तो उन दोनो के मध्य अविनाभाव तर्क अथवा अविच्छेद्य सम्बन्ध को प्रकट करने में तो और भी कम समर्थ है। वह पुरुष निश्चय बहुत ही चतुर होना चाहिए जो केवल तर्क के बल पर यह बता सके कि स्फटिक की उत्पत्ति उष्णता से होती है अथवा हिम शीतजन्य है जब वह इन धर्मों की क्रियात्मकता मे पूर्व परिचित नही है।

दूसरा भाग

२८ ऊपर प्रस्तुत किये हुए प्रथम प्रश्न का अभी हमे सन्तोषजनक हल प्राप्त नही हुआ। प्रत्येक हल नये-नये प्रश्न को उठाता है जो पहले से भी अधिक कठिन होता और आगे विचार करने के लिए हमे बाध्य करता है। जब यह पूछा जाय कि वास्तविक पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध मे हमारे तर्क किस तरह के होते हैं तो उचित उत्तर यही दीखता है कि वे कार्य कारण भाव पर आधारित हैं। और यदि आगे यह पूछा जाय कि इस प्रकार के सम्बन्ध के विषय मे हमारे समस्त तर्क एव निगमन का आधार क्या है तो एक ही शब्द मे उसका उत्तर दिया जा सकता है— अनुभव। परन्तु यदि हम इस छानबीन को और आगे बढायें और पूछे कि अनुभव सिद्ध प्रसूत निगमनो की आधारशिला क्या है तो मानना होगा कि यह एक नया प्रश्न है जिसका उत्तर या विवरण देना कही अधिक कठिन है। अपने आपको परम बुद्धिमान् और विचारसम्पन्न मानने वाले दार्शनिको के लिए भी यह टेढी खीर है, जब उन्हे जिज्ञासु प्राश्निको का सामना करना पडता है जो उन्हे उनके उत्तर के हर कोने से ढकेल आखिर किसी न किसी विकट समस्या मे डाल देते है। ऐसी उलझन से बचने का सबसे सरल उपाय यही है कि दार्शनिक सीमित मात्रा मे ही अहम्भाव प्रकट कर और दूसरे के द्वारा आपत्ति उठाये जाने मे पूर्व स्वय ही कठिनाई को जान लें। इसमे हम अपने अज्ञान को एक सद्गुण के रूप मे परिवर्तित कर सकेंगे इस परिच्छेद मे मैं उपर्युक्त प्रश्न हल करने के लिए

निषेधात्मक उत्तर देने का सरल मार्ग अपनाऊगा और यही कहूँगा कि कारण कार्य के सम्बन्ध का अनुभव हमको न तो तर्क के किसी निगमन से होता है और न किसी बौद्धिक व्यापार से—इस उत्तर के स्पष्टीकरण तथा दृढीकरण की चेष्टा अब फिर करनी है।

२९ यह तो बिल्कुल मान ही लेना चाहिए कि प्रकृति ने हमे अपने रहस्यो से बहुत दूर रखा है और हमे दृश्य पदार्थो के कतिपय बाह्य गुणो का ही परिचय दिया है और हमसे उन शक्तियो एव सिद्धान्तो को छिपा रखा है जिन पर समस्त पदार्थो का प्रभाव निर्भर है। हमारी इन्द्रिया हमे रोटी का रग, वजन और सामग्री का बोध कराती है परन्तु न हमारी इन्द्रिया और न बुद्धि ही हमे उन गुणो का ज्ञान कराती है जिसके कारण वह मानव शरीर के पोषण तथा आधार के लिये उपयुक्त हो जाती है। हमारी इन्द्रिया हमे वस्तु की गति की कल्पना तो करा देती है, परन्तु उस अद्भुत शक्ति की भावना हमे कदापि नही हो पाती जिससे स्थान परिवृति के साथ-साथ वस्तु सदा गतिमान होती रहती हैं और उस गति को तब तक बनाये रहती है जब तक वह अन्य किसी वस्तु मे स्थानान्तरित न हो जाय। इन प्राकृतिक शक्तियो तथा नियमा के सम्बन्ध मे अज्ञान रहते हुए भी हम दृश्य वस्तुओ को देख अन्यत्र भी वैसी ही शक्ति की कल्पना कर लेते है और वैसे ही परिणाम की आशा करने लगते है जैसे कि हमने प्रत्यक्ष रूप से अन्य वस्तुओ मे पायी हैं। यदि हमे पहले खायी हुई रोटी जैसी वस्तु ला दी जाय तो हमे पुन उसके प्रयोग करने मे किसी प्रकार हिचक नही होती और हम निश्चय से यह आशा कर लेते हैं कि उसके प्रयोग से हमे वैसी ही पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होगी। यह एक मानसिक विचार क्रम है जिसका आधार मैं अवश्य ही जानना चाहूगा। यह सबको स्वीकृत है कि प्रत्यक्ष गुणो और गुह्य शक्तियो के बीच कोई भी स्फुट सम्बन्ध नही जान पडता और इसी कारण वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के बल पर मानव मस्तिष्क उसके अन्तर्हित शक्तियो के सम्बन्ध मे कोई निश्चित धारणा नही कर सकता। जहा तक पूर्वानुभूति का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि निर्धारित वस्तुओ के सम्बन्ध मे उनको साक्षात

तथा निश्चित स्वरूप ही बताया जा सकता है और वह भी उसी काल के लिए जिनमे कि वह प्रत्यक्ष गोचर हो चुकी हैं। परन्तु यह पूर्वानुभूति भाविष्यकाल के लिए किसी प्रकार प्रयुक्त नही की जा सकती और प्रत्यक्ष ऐसी वस्तु जगत् के सम्बन्ध मे इसका प्रयोग कदापि नही किया जा सकना—यही मुख्य प्रश्न है जिस पर मैं आग्रह करना चाहता हूँ। पूर्वाभुक्त रोटी ने अवश्य मेरा पोषण किया अर्थात् उस वस्तु विशेष मे वे कुछ प्रत्यक्ष धर्म थे जिनमे अदृष्ट शक्ति पायी गयी परन्तु क्या उस अनुभूति के बल यह कहा जा सकता है कि दूसरी रोटी किसी अन्य अवसर पर मुझे उसी तरह पुष्टि प्रदान करेगी और यह भी कि वैसे ही प्रत्यक्ष धर्मों से युक्त पदार्थ सदा ही गुह्य शक्ति से सम्पन्न हो सकते हैं ? यह निगमन किसी तरह भी अनावश्यक प्रतीत नही होता। कम से कम यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ऐसी स्थिति मे हमारे मन ने कोई निगमन अवश्य किया, कोई कदम उठाया, एक विचार क्रम उपस्थित किया, कोई अनुमान किया जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। ये दो प्रतिज्ञाए एक दूसरी से बिल्कुल विभिन्न है—१ मैंने इस वस्तु विशेष का सदा ही एक निश्चित परिणाम पाया और २ यह कहना कि अन्य वस्तुए जिनका वाह्य स्वरूप तत्सदृश है अवश्य ही सुसदृश्य परिणाम को जन्म देंगी। यदि आप चाहे तो मैं यह स्वीकार कर लेता हूँ कि इनमे से एक प्रतिज्ञा दूसरे से अनुमित की जा सकती है, परन्तु यदि आपका यह आग्रह हो कि यह अनुमान किसी तर्क की शृंखला से निगत है तो मैं यह चाहूँगा कि आप उसे उपस्थित करें। इन प्रतिज्ञाओ के बीच सम्बन्ध आत्मसिद्ध नही है। किसी माध्यम की यहा अपेक्षा है जिसके द्वारा मानव मस्तिष्क इस प्रकार का अनुमान कर सके यदि वास्तव मे यह अनुमान तर्क या युक्ति के आधार पर किया गया हो। मैं स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मेरे लिए तो यह बुद्धि-गम्य नही कि कोई भी वह माध्यम कैसे हो सकता है और यह भार उन्ही पर है जो इसकी सत्ता मानते हैं और यह कहते है कि वही माध्यम वस्तु सम्बन्धी निर्णयो का मूल है।

३०. यह निषेधात्मक तर्क कालान्तर मे अवश्य ही मान्य हो सकेगा

यदि सूक्ष्म दृष्टि के योग्य दार्शनिक इस ओर अपनी कोई भी गवेषणाए प्रस्तुत करें तो यह भी है कि दार्शनिक प्रत्यक्ष और उससे अनुभूति रहस्य के बारे मे किसी प्रकार के सयोजक नियम तथा अन्तर्वृत्ति माध्यम को न पा सकेगा। परन्तु च कि यह प्रश्न अभी नया ही है इसलिए पाठक को अपनी बुद्धि के आधार पर कम से कम यह तो स्वीकृत नही करना चाहिए कि किसी तर्क की सत्ता ही नही है यदि वह अभी तक उसकी गवेषणा का विषय नही बन सका है। अतएव यह आवश्यक है कि हम कठिनतर कार्य मे जुट जाय और मानव द्वारा अर्जित समस्त ज्ञान विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओ का परिगणन कर यह सिद्ध कर दें कि उनमे से कोई भी ऐसे तर्क को स्थान देने मे समर्थ नही है। सकल तर्क दो भेदो मे विभक्त किये जा सकते हैं-(१) निर्देशक-तर्क—जिनका सम्बन्ध विचारो के पारस्परिक सम्बन्ध मे है और (२)सूक्ष्म नैतिक तर्क—जो वस्तुस्थिति से सम्बन्ध रखता है। यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय मे कोई भी निर्देशक तर्क नही रखा जा सकता क्योकि इस प्रतिज्ञा मे कोई भी विरोध नही है कि वस्तुगत निसर्ग में परिवर्तन हो सकता है-एक वस्तु जो हमारी प्रत्यक्षानुभूति वस्तु के सुसदृश है वह कभी बदली हुई दीख पड सकती है। और उसमे परिणामो की ही भिन्नता पायी जा सकती है। क्या मै स्पष्ट एव निश्चित रूप से यह धारणा नही रख सकता कि वह द्रव्य जो बादलो से टपकता है और जो हर बरफ के समान है स्वाद मे नमकीन और स्पर्श मे गर्म हो सकता है? क्या इससे भी अधिक स्फुट प्रतिज्ञा कही हो सकती है कि वृक्षादि दिसम्बर जनवरी मे बढ़ेगे और मई जून मे सूख जायेंगे। अत यह सत्य है कि जो धारणा स्फुट है और स्पष्टतया गोचर है उसमे कही विरोध के लिए स्थान नही है और न वह कभी भी निर्देशक तर्क द्वारा अथवा प्रारम्भिक सूक्ष्म युक्ति द्वारा मिथ्या प्रमाणित किया गया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हम पूर्वानुभूति पर विश्वास रखकर तर्क मे उतरें और पूर्वानुभूति को अपने भविष्यत्कालीन अनुमान का मापदण्ड समझें तो हमारे तर्क केवल सम्भाव्य ही हो सकते हैं और उपरि-

निर्दिष्ट विभाजन के अनुसार वे वस्तु एव उनकी सत्ता तक ही सीमित रहेगे। तथापि यदि हमारा विवरण ठीक और सन्तोषजनक है तो इस प्रकार के कोई तर्क हो ही नही सकते। हम यह ऊपर कह चुके है कि वस्तु के अस्तित्व सम्बन्धी समस्त तर्क कार्य कारण भाव पर आधारित हैं और इस सम्बन्ध का ज्ञान केवल पूर्वानुभवजन्य होता है, और हमारे सारे प्रायोगिक निगमन इसी धारणा पर अवलम्बित है कि भावी सदा भूत के अनुरूप ही होगा। अव इस अन्तिम मान्यता को सम्भाव्य तर्को अथवा सत्ता विषयक तर्को द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करना मण्डलाकार परिभ्रमण मात्र होगा। अथवा यह तो साध्य को ही सिद्ध मान लेना है।

३१ वास्तव मे तो अनुभवमूलक सकल तर्क प्राकृतिक वस्तुगत सादृश्य पर ही अवलम्बित है जिसके आधार पर हम एक वस्तु के धर्मो का परिचय पाकर तत्सदृश अन्य वस्तु मे भी वैसे ही धर्मों के अस्तित्व की आशा रखने लगते है। और यद्यपि किसी जडमति अथवा उन्मत्त व्यक्ति के अतिरिक्त कोई भी पुरुष प्रत्यानुभव की प्रामाणिकता मे सन्देह नही करता तथापि दार्शनिक को अवश्य ही इस सम्बन्ध मे कौतूहल हो सकता है कि मानव जीवन का सबसे बडा कौन-सा मार्ग निर्देशक है जिसके बल पर वह वस्तु मे वर्तमान पारस्परिक सादृश्य को देखकर अप्रत्यक्ष ज्ञान का लाभ उठाता है और मानव प्रकृति का परीक्षण भी अवश्य ही करना चाहिए।

सदृश कारणो से हम समान कार्यों की उत्पत्ति की आशा रखते हैं— यही हमारे सारे अनुभव जन्य प्रत्यक्ष का साराश है। और यदि यह युक्ति तर्कयुक्त है तो यह पहिले अनुभव पर ही उतना ही प्रमाणिक है जितना कि वह सम्पूर्ण अनुभव के उपरान्त होगा। परन्तु वास्तव मे यह वात नही पायी जाती। अण्डे की तरह अन्य कोई पदार्थ आपस मे एकसा नही होता, तथापि उनकी आकृति के साम्य के आधार पर यह निश्चय करना कि सवका स्वाद और रस एकसा होगा ऐसा कोई नही कह सकता। हमे किसी भी तथ्य के सम्बन्ध मे दृढ निश्चय एव विश्वास केवल वारम्वार और सदृश प्रयोगो के वाद ही हो पाता है। (तो भला वह कौन सा तर्क है जो एक दृष्टान्त पर निर्भर होकर ऐसे तथ्य का अनुभव कर लेता है

जो समकोटि के शत दृष्टान्तो का विश्लेपण कर के भी समझने मे कठिनाई हो जाती है ?) इस प्रश्न को उठाने म मेरा उद्येश्य जानकारी प्राप्त करने का भी उतना ही है जितना कि समस्याओ को उपस्थित करने का। मैं न तो किसी ऐसी युक्ति ही को पाता हू और न उसकी कल्पना ही कर पाता हू। तथापि मै सदा अपनी धारणाओ मे सशोधन करने के लिए तैयार हू यदि कोई भी वेत्ता मुझे इस सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान देने को उद्यत हो।

३२ यदि यह कहा जाय कि अनेक समरूप पयोगो के आधार पर हम प्र यक्ष धर्मो और प्रत्यक्ष अन्तर्हित शक्तियो के बीच सम्बन्ध का अनुमान कर लेते हैं तो मै यही कहूगा कि यह भी अन्य शब्दो मे उन्ही कठिनाइयो को उपस्थित करना है जिसे मैं पहिले भी प्रस्तुत कर चुका हूँ। कारण, वही प्रश्न फिर भी उठता है कि किस तर्क पद्धति पर यह अनुमान आधारित है ? वह माध्यम कहा है ? वे मध्यवर्ती विचार कौन-से है जो एक दूसरे से इतनी विलग प्रतिज्ञाओ को जोड देते है। यह तो मानी हुई वात है कि रोटी के रग, सामग्री तथा अन्य प्रत्यक्ष गुणो का रोटी मे अन्तर्हित पोपण एव आधार शक्ति से निजी तौर पर कोई सम्बन्ध दीख नही पडता। यदि ऐसा न हो तो हम प्रत्यक्ष धर्मों के प्रथमोवलोकन पर ही बिना अनुभव की सहायता के ही, वस्तुगत अन्तर्हित शक्तियो का अनुमान कर सकते होते, यद्यपि यह समस्त दार्शनिको की भावना तथा हमारे स्फुट वास्तविकता के प्रतिकूल ही होता। इस विषय मे तो हमे अपना नैसर्गिक अज्ञान मान लेना चाहिए कि हम वस्तु की आन्तरिक शक्ति तथा प्रभाव को नही पहचानते। तो फिर अनुभव से इसका प्रतिकार कैसे होता है ? अनुभव तो केवल इतना ही काम कर सकता है कि वह एक जैसे अनेक परिणामो को और सामने लाकर रख देता है और यह बता देता है कि ये वस्तुविशेप निर्दिष्ट काल पर इन शक्ति विशेष से सम्पन्न थी और जब वाद को वैसे ही धर्मो से युक्त नूतन वस्तु की उत्पत्ति होती है तो हम उससे भी वैसे ही परिणामो की आशा करने लगते हैं और वैसी ही शक्ति की वहा भी सम्भावना करने लगते हैं। रोटी जैसी आकृति एव सामग्री के

पदार्थ से रोटी जैसी ही पुष्टि और तुष्टि की सम्भावना ही की जा सकती है। निश्चय ही यह तर्क मानसिक पदक्रम है, एक परम्परा है जिसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सब पिछले दृष्टान्तो मे इन प्रत्यक्षित गुणो के अन्तर्हित इस तरह की शक्ति पायी और जब वह कहता है कि तत्सदृश प्रत्यक्षित गुण सदा वैसे ही अन्तर्हित शक्ति से सम्पन्न होगे तो वह किसी भाँति पुनरुक्ति नही करता, तथापि ये दो प्रतिज्ञाए सर्वथा एक ही नही हैं। आप का कथन है कि एक प्रतिज्ञा दूसरी प्रतिज्ञा से अनुमित है। आपको यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यह अनुमित आत्मसिद्ध नही है और न निर्देशक ही है, तो फिर कैसा है ? इसे अनुभूति जन्य कहना तो साध्य ही को सिद्ध मान लेना है, कारण कि यही तो समस्त अनुमित का आधार है कि भावी सदा भूत का अनुवर्ती होगा और सुसदृश परिणाम सदा सुसदृश धर्मो का कार्य है फिर यह स्वय अनुभूति जन्य कैसे हो सकता है। यदि हमे तनिक भी यह आशका हो जाये कि प्रकृति भी कही परिवर्तनशील है तो भूत भावी का नियामक कदापि न हो सकेगा और अनुभव निष्फल होकर हमे किसी भी अनुमित अथवा निगमन पर नही पहुचा सकेगा। अत अनुभूतिमूलक तर्क के लिए यह असम्भव है कि वह भूत और भावी मे सारूप्य सिद्ध कर सके, कारण यह है कि इस विषय मे सारी युक्तिया सादृश्य पर ही निर्भर है। नमार मे प्रकृति के वस्तुक्रम को नियमित अभी तक क्यो न मान लें फिर भी बिना किसी नवीन अनुमान या तर्क के भविष्य मे भी सदा ऐसा ही होता रहेगा, यह प्रमाणित नही होता। अत पूर्वानुभव के आधार पर वस्तु निसर्ग के ज्ञान का दम्भ व्यर्थ है। कारण, वस्तु का बाह्यस्वरूप वही रहते हुए भी उसके अन्तर्हित निसर्ग और साथ-साथ उसके भाव परिणाम एव प्रभाव मे अन्तर पड सकता है। किन्ही-किन्ही वस्तुओ मे और कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है तो फिर सकल वस्तु जगत् मे क्यो नही हो सकता ? इस आशका के विरुद्ध आपके पास कौन-सा तर्क अथवा युक्तिबल है जो आप को इस सकट से बचाता है ? आपका कथन है कि हमारा रोज का व्यवहार ही हमारे इन सन्देहो के विरुद्ध है परन्तु यह मेरे प्रश्न का तात्पर्य

एक कर्ता और भोक्ता के नाते तो मै इस विषय मे सन्तुष्ट हू परन्तु एक विचारक के नाते यदि सन्देहवश नही तो कुतूहलवश मैं उपर्युक्त अनुमान का मूल आधार जानना चाहता हू। अधिक से अधिक और परामर्श ने अभी तक तो मेरी समस्या का कोई हल नही दिखाया और न इतने ही महत्व के विचार विन्दु पर किसी तरह का सन्तोषजनक प्रकाश ही डाला। मै इससे अधिक अच्छी वात और क्या कह सकता हू कि मैं अपनी समस्या को जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करू यद्यपि सम्भवत वहा भी मुझे हल पाने की आशा वहुत ही स्वल्प है। ऐसा करने से यद्यपि हम अपने ज्ञान मे वृद्धि न भी कर पायें फिर भी हमे कम से अपने अज्ञान का तो भान हो ही जायगा।

२३ यदि अपने अन्वेषण से कोई तक ओझल रह जाय तो उसकी तात्विक सत्ता को ही न माना जाय। यह तो समझता हू कि मानव का अक्षम्य दम्भ है। साथ ही साथ मुझे यह भी मान लेना चाहिए कि किसी भी विषय पर यदि अनेक युगो से भी विद्वानो का अन्वेषण निष्फल ही रहा हो तो भी उस विषय को मानव बुद्धि से सर्वथा अगम्य मान वैठना तो अविवेक ही होगा। हम अपने ज्ञान के समस्त स्रोत भले ही टटोल लें और उन्हे प्रस्तुत विषय के लिए अनुपयोगी भी मान लें तथापि यह आशका तो वनी ही रहती है कि हमारी अपनी परिगणना ही अपूर्ण रही होगी और हमारा अन्वेषण ठीक-ठीक न हुआ होगा। परन्तु प्रस्तुत विषय के सम्वन्ध मे यह कहा जा सकता है कि यहा यह दोष नही पाये जाते।

यह तो सत्य ही है कि एक अत्यन्त निरक्षर एव जडमति गँवार भी—अवोध शिशु भी अथवा जगली पशु भी—अनुभव से सुधर जाते हैं और प्राकृतिक वस्तुओ के धर्मो को उनके परिणामो का निरीक्षण करके पहिचान लेते है। वच्चे को यदि एक वार दीप की ज्योति से स्पर्श होने पर तज्जन्य वेदना का अनुभव हो जाता है तो वह सदा उससे दूर रहने की चेष्टा करता है और सदा तत्सदृश वस्तु को देख उससे भी वैसे ही परिणाम की आशका करने लगता है। यदि यहा भी आप का यही कथन है कि शिशु को यह वोध भी किसी बौद्धिक व्यापार या तर्क पद्धति से

उपलव्ध होता है तो मैं आपसे अनुरोध करूगा कि आप उस तर्क पद्धति अथवा वौद्धिक व्यापार को मेरे सम्मुख उपस्थित करें—आप मेरी इस उचित माग को मना नहीं कर सकते। आप यह भी नही कह सकते कि वह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म है और वोधगम्य नही है क्योकि आप स्वय ही उसे शिशु की वुद्धि के द्वारा गम्य मानते है। यदि आप किसी एक क्षण भी उस तर्क को प्रस्तुत करने मे सकोच करते है अथवा गम्भीर विमर्श के पश्चात् आप किसी पेचीदे या भारी तर्क को रखते हैं तो एक प्रकार से आप उस प्रश्न से भागते मालूम पडते है और यह स्वीकार करते है कि भावी को भूत के अनुरूप मानने और सुसदृश कारणो से तदनुरूप कार्यों की उत्पत्ति की आशा रखने मे कोई भी तार्किक पद्धति नही है। मैं इस परिच्छेद मे इसी प्रतिज्ञा को दृढता पर्वक रखना चाहता हू। यदि मैं सही हू तो मैं किसी वडे भारी आविष्कार का गर्व नही करता और यदि मै गलत हू तो अवश्य ही मुझे अपने आप को एक वडा हीन विचारक मान लेना चाहिये क्योकि अव इस आयु भर मैं उस तर्क को नहीं जान रहा हू जिससे मैं वीस वर्ष पूर्व अपने वचपन मे भली भाति परिचित था।

पाचवा परिच्छेद

उपर्युक्त शकाओ के सदिग्ध निराकरण

(१)

३४ धम की तरह दर्शन के प्रति अनुराग भी एक प्रकार की असुविधा को ही उत्पन्न करता है। यद्यपि वह हमारे आचार-विचार को सुधारने तथा दोषो को दूर करने का उद्देश्य रखता है, तथापि वह निविवेक प्रयोग करने पर वडी दृढता के साथ हमारी मनोवृत्ति तथा मन को उधर ही झुका देता है जिधर उसका झुकाव पहले से ही अपनी प्रकृति के अनुसार रहता हो। यह निश्चित है कि जैसे-जैसे हम एक सूक्ष्मदर्शी ऋषि की तरह उदात्त दृढ भावना को ही अपनाना चाहते है और अपने सम्पूर्ण आनन्द को स्वकीय मनोव्यवहार मे ही सीमावद्ध करने की चेष्टा करते है, वैसे-वैसे हमारा दर्शन भी तो अपिक्टेटस, अथवा अन्य स्टोइक-दार्शनिको की तरह बनने लगता है। और तव वह स्वार्थपरता का ही एक सस्कृत स्वरूप ले लेता है, चाहे उसमे सद्गुणो एव सामाजिक सुखो का त्याग ही क्यो न हो। जब हम मानव-जीवन की निस्तारता पर ध्यानपूर्वक विचार करने लगते हैं और धन, सम्पत्ति, सम्मान आदि की क्षणिकता एव तुच्छता की पुकार लगाते हैं, तो हम सम्भवत अपने स्वाभाविक आलस्य की ही मिथ्या प्रशसा करते हैं। ऐसी मनोवृत्ति ससार की व्यस्तता एव व्यावसायिक कठोरता के प्रति अरुचि उत्पन्न कर, अपनी अनियमित सुखपरता को तार्किक वेप पहिनाने की चेष्टा करती है। हा दर्शन का एक मार्ग ऐसा अवश्य है जो ऐसी असुविधा को उत्पन्न नही करता, इसका कारण यह है कि वह मानव-मस्तिष्क की किसी भी विकृत लालसा को जागृत नही करता और न किसी नैसर्गिक लगन या झुकाव का ही साथ देता है। और यह जिज्ञासात्मक अथवा सदिग्धात्मक दर्शन कहला सकता है। जिज्ञासु-

वर्ग सदा सदेह एव अनिश्चित निर्णयो की ही चर्चा करता रहता है और वह निर्णय मे जल्दबाजी से डरता है, अपनी बौद्धिक गवेपणाओ को सकीर्ण सीमा मे रखता है और उन सकल काल्पनिक ऊहापोहो से दूर रहता है जो हमारे सर्वसाधारण जीवन तथा व्यवहार से परे है। इस प्रकार का दर्शन तो मानव-मस्तिष्क के आलस्य, तज्जन्य वर्ग और ऊची-ऊची बातो तथा आशुग्राहिता का नाशक है। दर्शन का यह मार्ग तो सत्यान्वेषण की लगन को छोडकर अन्य सब लालसाओ को समाप्त कर देता है। और यह लगन तो न कभी मात्राधिक्य को पहुची है, और न कभी पहुचेगी। इतना होते हुए भी ऐसे निर्दोष एव निरुपाय दर्शन भी निराधार उपहास एव वक्रोक्ति के विपय होते रहते हैं। सम्भवत वे ही कारण जो इसे इतना निर्दोप बनाते हैं, इसे जनसाधारण की अरुचि एव अप्रियता का भी विपय बनाते है। किसी अप्राकृतिक भावना को व्यर्थ का प्रोत्साहन न देने के कारण, इस दर्शन के आश्रयदाताओ की भी कमी है और अनेक दोपो एव व्यसनो का विरोध करने से उस पर शत्रुओ की बाढ भी आ जाती है, जो उसे अमर्यादित, दूपित एव अधार्मिक कह कर कलकित करते है।

यद्यपि दर्शन का यह रूप सामान्य जीवन मे हमारे विमर्श को सीमित करने की चेप्टा करता है तथापि हमे यह भय नही होना चाहिए कि यह सामान्य जीवन के विपय मे हमारी तार्किक युक्तियो को किसी प्रकार दबायेगा या हमारी शकाओ को इतनी बढा देगा कि हमारे समस्त कर्म तथा जीवन के सकल व्यापार को ही नप्ट कर देगा। प्रकृति सदा ही अपने अधिकारो को सुरक्षित रखती है और अन्त मे सूक्ष्म से सूक्ष्म मानसिक तर्क पर भी अपनी सत्ता स्थिर कर के ही रहती है। उदाहरणार्थ यदि हम पूर्व परिच्छेद मे कही हुई उस बात को मान लें कि अनुभव-मूलक सकल तर्कपद्धति में मन एक ऐसा व्यापार करता है जो किसी बौद्धिक व्यापार अथवा युक्तिबल पर आधारित नहीं है, तथापि यह भय नहीं होना चाहिए कि ऐसे किसी नवीन विचार के प्रादुर्भाव से यह तर्क पद्धति ही किसी तरह से उच्छिन्न की जा सके। यदि मानव मन इस तर्क के

स्थान पर किसी अन्य समतुल्य सिद्धान्त को अपनायेगा जो अपने प्रभाव को तब तक बनाये रखेगा जब तक कि मानव प्रकृति ही बदल नही जाती और यह जानना कि ऐसे सिद्धान्त का क्या स्वरूप है, अवश्य ही विमर्श के श्रम के योग्य है।

३५ मान लो कि सबल युक्ति एव विचारशक्ति से सम्पन्न एक व्यक्ति सहसा इस ससार मे लाकर रख दिया जाय तो यहा वह तुरन्त ही देख लेगा कि जगत् मे वस्तु की गति की एक परम्परा है, जहा एक घटना दूसरी की अनुगामिनी है, परन्तु इसके आगे वह और अधिक कुछ न जान पायेगा। किसी भी युक्ति से वह एकदम कार्य-कारण सबध को नही पहचान सकेगा। कारण, वस्तुगत अन्तर्हित शक्तिया इन्द्रियगोचर नही होती। और न यही युक्तिसगत प्रतीत होता है कि यदि एक घटना दूसरी घटना से पूर्ववर्ती है तो वह इसीलिये कारण रूप और पीछे होने वाली घटना तज्जन्य कार्यरूप है। उनका सयोग आकस्मिक एव काकतालीय भी हो सकता है। एक सत्ता से दूसरी सत्ता के अनुमान करने मे कोई तार्किक आधार नही है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ऐसा नवागन्तुक व्यक्ति कुछ अधिक अनुभव के बिना केवल अपने तर्क द्वारा अथवा बुद्धि के बल पर वस्तु-जगत् के सम्बन्ध मे अपने तात्कालिक प्रत्यक्ष एव स्मृति से परे किसी भी विशिष्ट ज्ञान की सत्यता मे विश्वास नही कर सकता और आगे यह भी मान लो कि उसे कुछ अधिक अनुभव प्राप्त भी हो गया, और यदि वह परिचित वस्तु तथा घटनाओ के सर्वकालीन सहभाव को बारम्बार देखने तक जीवित भी रहा हो तो भी उसका यह अनुभव आखिर किस काम का है? वह अब भी एक वस्तु को सत्ता देखकर ही सहसा अन्य की सत्ता का अनुमान ही तो करता है और फिर भी अपने समग्र अनुभव के बाद भी उस अन्तर्हित शक्ति का ज्ञान या कल्पना भी नही रखता जिससे कि एक वस्तु दूसरी को जन्म देती है, और न ही वह इस प्रकार के अनुमान करने मे किसी तार्किक पद्धति से ही काम लेता है। तथापि वह ऐसा करता ही है और यद्यपि उसे विश्वास भी हो जाय कि उस व्यापार मे उसकी बुद्धि का कोई भी प्रभाव नही है

तथापि वह उसी तरह सोचता रहेगा। प्रतीत होता है कि उस मानसिक व्यापार मे बुद्धि के अतिरिक्त और कोई सिद्धान्त या तत्व छिपा हुआ है।

३६. वह मूलाधार सिद्धान्त है रूढि अथवा अभ्यास। जहा कही किसी भी मानसिक व्यापार की बारम्बार पुनरावृति की भावना सजग होती है और उसके पीछे कोई तार्किक पद्धति या बौद्धिक व्यापार की प्रेरणा नही पायी जाती तो हम अवश्य ही कह सकते हैं कि वह रूढि अथवा अभ्यासवश जागत होती है। इस शब्द के प्रयोग से हमारा यह आशय नही कि हमने उस भावना का कोई मूलाधार ढूढ निकाला है। हम तो केवल मानव-स्वभाव का एक निदर्शन मात्र दे रहे हैं जो जन सामान्य मे प्रचलित है और सदा परिणाम से पहिचाना जा सकता है। सम्भवत हम अपने विमर्श को इनसे आगे और नही बढा सकते और न इस कारण का ही कारण दे सकते हैं, इसीलिए केवल इतना ही कह कर सन्तुष्ट हो लेते हैं कि यह वही सिद्धान्त है जो कि अनुभवजन्य सकल निगमनों का मूलाधार है। यह पर्याप्त सन्तोष है कि हम कम-से-कम अपने विमर्श मे इतनी दूर तो पहुच सके। और हमे अपनी बुद्धि की सकुचित शक्तियो के प्रति यह रोष नहीं है कि वे हमे इससे परे और आगे नही ले जा सकी। और यह तो ठीक ही है कि जब हम दो वस्तुओ के साहचर्य के पश्चात् जैसे वाहिनी और ज्वाला या परिमाण और सघात, रूढि या अभ्यासवश एक के अस्तित्व मे दूसरे के अस्तित्व की सभावना करते है तो चाहे हमारा ऐसा करना यथार्थ न हो पर बुद्धिगम्य तो अवश्य है। और केवल यही पूर्व-निगमन इस समस्या का भी उत्तर देता है कि हम क्यो सहस्र उदाहरणो को देखकर यह अनुमान कर लेते हैं जो केवल एक उदाहरण पर नही करते। चाहे वह दोनो एक समान ही क्यो न हो। बुद्धि इस तरह के भेद करने मे असमर्थ है। बुद्धि केवल एक वर्ग को देखकर जिन निगमनो पर पहुचती है उन्ही पर वह विश्व के समस्त वर्गो का निरीक्षण करने पर पहुचेगी। परन्तु कोई भी व्यक्ति किसी एक वस्तु की प्रेरणा दूसरी वस्तु को घूमते देखकर यह निश्चय नही कर सकेगा कि प्रत्येक वस्तु उसी

प्रकार की प्रेरणा से घूमने लगेगी। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनुभवजन्य समस्त तर्क अभ्यास का परिणाम है न कि तर्क का।[1]

---

१ नैतिक, राजनैतिक अथवा भौतिक विषयो के लेखको के लिए भी इसके अतिरिक्त बढकर अधिक उपयोगी और कुछ नहीं है कि तर्क और अनुभव मे विवेक किया जाय और यह मान लिया जाय कि तर्कमूल विमर्श एक अनुभवमूल विमर्श से बिल्कुल भिन्न है। तर्कमूल विमर्श केवल हमारी बौद्धिक शक्तियो के फलस्वरूप है जो वस्तु-निसर्ग का निश्चित प्रागनुभव करता है और तज्जन्य परिणामो का अध्ययन करता है। अनुभवजन्य ज्ञान इन्द्रियो द्वारा तथा अन्वेक्षण द्वारा प्राप्त होता है और उससे हमे यह ज्ञात होता है कि किस क्रिया का प्रतिफल क्या होगा। उदाहरणार्थ—नागरिक शासन तथा न्याय के नियमो को हम या तो तर्क के आधार पर सिद्ध कर सकते है जो मानववृति की निर्बलता तथा दोषपूर्णता के कारण हमें यह सिखाता है कि किसी भी व्यक्ति की अमर्यादित सत्ता खतरे से खाली नहीं हैं अथवा यही काम हम अनुभव एव इतिहास के आधार पर कर सकते है जो हमे उन अगणित अन्यायों से परिचित कराता है, जिन्हे हर देश और युग से इसलिए किया गया है कि हमने मनुष्यो के स्वार्थ के ऊपर अनुचित विश्वास किया।

इसी तरह हम देखते हैं कि जीवन के कठिन से कठिन व्यवहार सम्बन्धी विचारो मे तर्क एव अनुभव मे विवेक किया जाता है, क्योकि हम देखते हैं कि जहाँ हम एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ, सेनाध्यक्ष, वैद्य अथवा व्यवसायी का विश्वास और अनुकरण करते हैं। एक नौसिखिया की हम न तो पूछ करते हैं और न उसका आदर ही करते हैं, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो। यह चाहे मान भी लिया जाय कि तर्क विशेष स्थितियों मे विशेष प्रकार के परिणाम सम्बन्धी शुद्ध अनुमान (कल्पना) शायद करा भी दे तथापि यह निर्णय अपूर्ण ही माना जायगा यदि उसके पीछे अनुभव का बल न होगा। कारण अनुभव ही एकमात्र ऐसा साधन है जो हमारे उन लौकिक न्यायो को जो गभीर

प्रकार की प्रेरणा से घूमने लगेगी। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनुभवजन्य समन्न तर्क अभ्यास का परिणाम है न कि तर्क का।'

---

१ नैतिक, राजनैतिक अथवा भौतिक विषयो के लेखको के लिए भी इसके अतिरिक्त बढकर अधिक उपयोगी और कुछ नहीं है कि तर्क और अनुभव मे विवेक किया जाय और यह मान लिया जाय कि तर्कमूल विमर्श एक अनुभवमूल विमर्श से बिलकुल भिन्न है। तर्क-मूल विमर्श केवल हमारी बौद्धिक शक्तियो के फलस्वरूप है जो वस्तु-निसर्ग का निश्चित प्रागनुभव करता है और तज्जन्य परिणामो का अध्ययन करता है। अनुभवजन्य ज्ञान इन्द्रियो द्वारा तथा अन्वेक्षण द्वारा प्राप्त होता है और उससे हमे यह ज्ञात होता है कि किस क्रिया का प्रतिफल क्या होगा। उदाहरणार्थ—नागरिक शासन तथा न्याय के नियमो को हम या तो तर्क के आधार पर सिद्ध कर सकते है जो मानववृति की निर्बलता तथा दोषपूर्णता के कारण हमें यह सिखाता है कि किसी भी व्यक्ति की अमर्यादित सत्ता खतरे से खाली नहीं हैं अथवा यही काम हम अनुभव एव इतिहास के आधार पर कर सकते है जो हमे उन अगणित अन्यायों से परिचित कराता है, जिन्हे हर देश और युग से इसलिए किया गया है कि हमने मनुष्यो के स्वार्थ के ऊपर अनुचित विश्वास किया।

इसी तरह हम देखते हैं कि जीवन के कठिन से कठिन व्यवहार सम्बन्धी विचारों मे तर्क एव अनुभव मे विवेक किया जाता है, क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ हम एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ, सेनाध्यक्ष, वैद्य अथवा व्यवसायी का विश्वास और अनुकरण करते हैं। एक नौसिखिया की हम न तो पूछ करते हैं और न उसका आदर ही करते हैं, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो। यह चाहे मान भी लिया जाय कि तर्क विशेष स्थितियों मे विशेष प्रकार के परिणाम सम्बन्धी शुद्ध अनु-मान (कल्पना) शायद करा भी दे तथापि यह निर्णय अपूर्ण ही माना जायगा यदि उसके पीछे अनुभव का बल न होगा। कारण अनुभव ही एकमात्र ऐसा साधन है जो हमारे उन लौकिक न्यायों को जो गभीर

३७ यहा यह कहना तो उचित ही होगा कि हमारे अनुभव-जन्य निगमन यद्यपि हमे अपनी स्मृति तथा प्रत्यक्ष के परे ले जाकर सुदूर एव पुरातन की वस्तुस्थिति का बोध करा देते है तथापि कोई न कोई वस्तु अवश्य ही हमारी स्मृति तथा ज्ञानेन्द्रियो के सम्मुख होनी चाहिए जिनके आधार पर ही हम उन निर्णयो पर पहुचते है। किसी निर्जन प्रदेश पर

मनन तथा अभ्यास से अवगत होते हैं, स्थिरता तथा निश्चितता प्रदान कर है।

यदपि इस प्रकार के तर्क और अनुभव मे विवेक सर्वमान्य है तथापि मुझे इस विवेक को मूलत भ्रान्त अथवा तुच्छ कहने मे सकोच न होगा।

यदि हम विविध विज्ञानों के उन अनुमानो का निरीक्षण करें जो रूप प्रतीत होते हैं तो अन्तत. वे किसी न किसी ऐसे सामान्य सिद्धान्त से निकले दिखाई पडते हैं जिसके लिए हम अन्वेक्षण और अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं दे सकते। इन युक्तियो मे तथा पूर्वानुभव पर अवलम्बित माने जाने वाले न्यायो के बीच यदि कोई अन्तर है तो वह यह है कि प्रथम वर्ग की युक्तियो के बिना किसी विचारधारा अथवा मनन को स्थिर नहीं किया जा सकता, प्रत्युत दूसरे वर्ग के तर्क मे हम अनुभूत वस्तु से तुरन्त ही अनुमेय पर पहुच जाते हैं। टायबेरिस अथवा नीरो का इतिहास हमें यहीं सिखाता है कि अत्याचारो से डरना चाहिए। यदि हमारे प्रशासक भी आज न्याय एव लोकसभा के डर से उन्मुक्त हो जाय, लेकिन व्यक्तिगत जीवन मे भी नृशसता या वचकता के एक दो दृष्टान्त ही वैसी भी भीति उत्पादन करने को पर्याप्त हैं। साथ ही साथ ये हमें मानव स्वभाव में उस भ्रष्टता का दिग्दर्शन कराते हैं जिससे हम समझ जाते हैं कि मानव स्वभाव मे अन्धविश्वास करने मे कितना धोखा हो सकता है। दोनो हालतो मे अनुभव ही हमारे सकल अनुमान एव निगमनो का चरम आधार है।

ऐसा कोई भी अबोध एव अनुभवहीन व्यक्ति न होगा जिसने

वेशाल महलो के भग्नाविशेष को देखकर कोई भी व्यक्ति इसी निर्णय पर पहुचेगा कि पुरातन समय मे वहा सभ्य नागरिक रहा करते थे, परन्तु यदि उसे नागरिक बस्तियो का ही पूर्व परिचय बिलकुल न हो तो वह कदापि इस निर्णय पर न पहुच पायेगा। हम पुरातन युगो की स्थिति का ज्ञान इतिहास द्वारा पाते है, लेकिन ऐसे ग्रन्थो के अवलोकन मे हमे उन

अन्वेक्षण द्वारा मानव-व्यवहार एव जीवन-चरित्र के सम्बन्ध मे कुछ न कुछ सामान्य एव प्रामाणिक सिद्धान्त स्थिर न कर लिये हो, तथापि यह मानना होगा कि जब वह इन सिद्धान्तो पर चलना चाहेगा तो वह गलतियाँ कर सकता है जब तब कि समय तथा विस्तृत अनुभव उन सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाकर उनका समुचित उपयोग एव प्रयोग उसे सिखा न देगा। हर अवस्था या घटना के सम्बन्ध मे प्राय अनेक विशिष्ट एव सूक्ष्म वस्तुए (स्थितिया) हो जाती हैं जिन्हे बडे से बडा बुद्धिमान व्यक्ति भी सहसा देखना भूल जाता है और उनके अन्वेक्षण पर ही उसके निर्णयों की प्रामाणिकता तथा उसके व्यवहार की यथोचितता निर्भर रहती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नौसिखिया को सामान्य नियम या न्याय उचित अवसर प॰ भासमान नहीं होते और न उनका शान्तिपूर्वक अथवा विवेकपूर्ण प्रयोग ही उसके द्वारा तुरन्त किया जाता है। सत्य तो यह है कि अनुभवहीन तार्किक तार्किक ही नहीं होता और जब हम किसी को ऐसा कहते हैं तो वह तुलनात्मक दृष्टिकोण से ही, क्योंकि हम उसे स्वल्प मात्र मे अथवा अपूर्ण अनुभव का व्यक्ति ही समझते हैं। तो फिर अभ्यास मानव जीवन का एक विशिष्ट पथ-प्रदर्शक है। वही एक ऐसा आधार है जो हमारे अनुभवों को उपयोगी बनाता है और भूत से भावी का ज्ञानोपार्जन करने मे सहायक होता है। अभ्यास के बिना हम वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ रहेंगे और प्रत्यक्ष अथवा स्मृति ज्ञान के अतिरिक्त हम कुछ भी न जान सकेंगे। हम साधन को साध्य से कभी सम्बधित हो न कर सकेंगे। इसका फल यह होगा कि सकल

बातों की प्रामाणिकता तब तक नही मिलती जब तक हमे दूरस्थ उन घटनाओ के प्रत्यक्ष दृष्टाओ से साक्षात्कार न हो जाय। सक्षेपत यदि हम स्मृति अथवा प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान के बिना केवल तर्क मे ही आगे बढे तो हमारे निणय मध्यवर्ती तार्किक शृ खलाओ के होते हुए भी उपरि-निष्ठित अथवा पूर्वाभास मात्र ही होगे। और हमारी सारी अनुमान-परम्परा निराधार ही रहेगी और हम कभी भी वास्तविकता का यथाथ ज्ञान उस तक के द्वारा प्राप्त नही कर सकेंगे। यदि मैं यह पूछूं कि आप जिस घटना का वर्णन कर रहे है उस पर आप क्यो कर विश्वास करते है तो आपको मुझे कुछ वजह बतानी होगी और वह वजह उससे भिन्न होते हुए भी उससे किसी तरह सम्बन्धित होगी। परन्तु इस तरह आप अनवस्था तक अपने विमर्श को नही ले सकते और आप को कही न कही जाकर विराम अवश्य करना होगा और वह स्थान वही होगा जो आप की स्मृति या प्रत्यक्ष पर आधारित है अथवा आप को मान लेना होगा कि आपकी धारणा सर्वथा निर्मूल है।

३८ तो फिर इस सारे विमर्श का निष्कर्ष क्या है? निष्कर्ष तो सीधा-सा है पर वह दर्शन की सामान्य विचारधारा से काफी दूर है। वास्तविक सत्ता सम्बन्धी समस्त ज्ञान अथवा अनुमान स्मृतिगत अथवा प्रत्यक्ष दृष्ट विषय और किसी इतर विषय से सयोग के आधार पर ही उपलब्ध होता है। या दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि अनेक स्थल पर दो पदार्थों को जैसे ज्वाला और उष्णता या हिम और शैल-सदा एकाधिकरण देखने पर जब कही ज्वाला या हिम का प्रत्यक्ष हो तो अभ्यासवश मन वहा उष्णता या शैल के अस्तित्व को मानने लगता है और निकट जाने पर सचमुच वैसा ही पाता है। यह धारणा अन्त करण की किसी विशेष अवस्था मे स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है। यह अन्तरात्मा का इसी तरह का व्यापार है जैसे कि—किसी से लाभ मिलने पर उसके प्रति स्नेह

व्यापार की इतिश्री हो जायगी और दार्शनिक विमर्श भी समाप्त हो जायेंगे।

का प्रादुर्भाव होना अथवा हानि पहुचने पर उसके प्रति द्वेष का उत्पन्न होना। यह सब क्रियाएँ नैसर्गिक वृत्तियो के समान है जिन्हे कोई तर्क या विचार पद्धति या बुद्धि-व्यापार न पैदा कर सकता है और न रोक ही सकता है।

यहा हमारे लिए सही सम्मति है कि यह दार्शनिक गवेषणाए स्थगित कर दें। कई प्रश्नो पर तो हम एक कदम भी आगे नही उठा सकते और बहुत से प्रश्नो मे तो हमे यहा अपना विमर्श समाप्त ही कर देना होता है, चाहे हमने कितने ही अथक परिश्रम एव उत्सुकता से अपने अन्वेषण क्यो न किये हो तथापि हमारी यह उत्सकुता क्षम्य ही नही वरन् स्तुत्य भी होगी यदि वह हमे यह बता सकें कि हमारा 'विश्वास' और यह अविनाभाव सम्बन्ध अथवा तज्जन्य सयोग का ज्ञान हमे कहा से प्राप्त होता है। ऐसा करने पर हम शायद ऐसे किसी विवरण अथवा दर्शन के प्रेमियो को कुछ सन्तोपजनक सिद्ध हो सकें यद्यपि वह विवरण कितना ही प्रामाणिक और ठीक-ठीक होने पर सन्देह एव अनिश्चितता से मुक्त तो कभी न होगा। इससे भिन्न अध्येताओ के लिए इस परिच्छेद का शेप अश किसी मतलब का न होगा फिर भी निम्नलिखित समझ तो लेना ही चाहिए चाहे वे उसकी उपेक्षा ही क्यो न करें।

दूसरा भाग

३९ मानव-कल्पना से अधिक स्वतत्र इस जगत् मे अन्य कोई भी वस्तु नही है और यद्यपि वह वाह्य एव आभ्यन्तर इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत विचारो के मूल कोप से आगे नही जा सकती, फिर भी इसमे इन विचारो का एकीकरण, सम्मिश्रण, विश्लेपण तथा विभाजन की काल्पनिक एव स्वाप्निक परम्परा का तथा विविध वर्गो को उपस्थित करने की असीम शक्ति है। वह घटनाओ की परम्परा को कल्पित कर सकता है, जिसमे यथातथ्य का पूण रूप दीख जाय, उन्हे देश और काल से सयुक्त किया जा सकता है, उनकी सत्ता भी कल्पित की जा सकती है और उनकी सहचर समस्त स्थितियो का चित्रण किया जा सकता है। जो उन्हें ऐतिहासिक

तथ्य का रूप दे दें जिससे उनका अस्तित्व अधिक दृढता से स्वीकृत हो। तो फिर ऐसी कल्पना और विश्वास मे कहा अन्तर है ? यह अन्तर किसी ऐसी धारणा विशेप मे नही है जिसका सम्बन्ध विश्वास से तो हो, पर कल्पना से न हो। चू कि मानव अत करण का सारे ही विचारो पर समान अधिकार है, वह अपने आप उस धारणा विशेप को कल्पना से जोड सकता है और तत्पश्चात् मनचाही वस्तु मे विश्वास रखने लगता है, चाहे वह हमारे दैनिक अनुभव के कितने ही विपरीत क्यो न हो। हम चाहे तो अपनी कल्पना मे आदमी के सिर को घोडे के धड से जोड दे सकते हैं, परन्तु यह भी मानना कि ऐसा प्राणी कभी वास्तव मे रहा है यह हमारी शक्ति के बाहर है।

इससे यह निश्चय होता है कि कल्पना एव तथ्य मे अन्तर किसी ऐसी भावना पर निर्भर है जो कि तथ्य के साथ लगा हुआ है पर कल्पना के साथ नही और न वह हमारी इच्छा पर ही अवलम्बित है और न हमारे चाहने से ही हो जाता है। उसका तो उद्बोधन अन्य भावनाओ की तरह प्रकृति के द्वारा ही किया जा सकता है, और उसकी जाग्रति तो किमी समय, विशेप कर मन की किसी विशिष्ट दशा मे ही हो सकती है। जब कभी कोई विपय किसी भी इन्द्रिय अथवा स्मृति का गोचर होता है वह तुरन्त ही अभ्यासवश हमारी कल्पना शक्ति को उस सम्बद्ध विपय तक पहुचा देता है और इस तरह के व्यवहार के साथ एक भावना रहती है जो हमारी काल्पनिक तथा शिथिल मनोवस्थाओ से बिल्कुल भिन्न होती है। विश्वास के स्वरूप का रहस्य इसी धारणा विशेप मे अन्तर्हित है। कारण, ऐसा कोई वास्तविक विपय नही है कि जिसमे हमारा ऐसा दृढ विश्वास हो कि हम उसके विपरीत का अस्तित्व न सोच सके। यदि इन दोनो मे परस्पर विभेदक कोई विशेप भावना न हो तो स्वीकृत धारणा तथा निरस्त धारणा मे कोई अन्तर ही नही रहेगा। यदि मैं एक चिकने मच पर विलियर्ड की एक गेंद को दूसरी गेंद की ओर जाने देता हू तो मैं आसानी से यह धारणा बना सकता हू कि दोनो के स्पर्श मे यह गति रुक जायगी। इस धारणा मे विरोध के लिये कोई स्थान नही है तथापि यह

उस धारणा से बिलकुल विभिन्न-सी लगती है जिसमे कि हम यह सोचते हैं कि एक गेंद दूसरी गेद को स्पर्श से गति देती है।

४० यदि हम इस भावना विशेष की परिभाषा देने का यत्न करे तो यदि असम्भव न भी हो तो भी यह टेढ़ी खीर अवश्य होगी। यह उतना ही कठिन होगा जितना कि शील अथवा क्रोध की भावना की व्याख्या ऐसे आदमी से कर देना हो जिसने इन भावनाओ का कभी पूर्व मे अनुभव ही न किया हो। इस भावना विशेष का सही नाम 'विश्वास' ही हो सकता है और ऐसा कोई व्यक्ति नही है जो इस पद का तात्पर्य न समझता हो, कारण हर व्यक्ति प्रतिक्षण—इस पद से बोध्य मान भावना का अनुभव करता रहता है। यद्यपि यह पदव्याख्या का विषय नही है तथापि इसके वर्णन करने की चेष्टा अनुचित न होगी, कारण ऐसा करने मे हमे शायद कुछ ऐसे सदृश दृष्टान्त मिल जाय जिससे कि उसका पूर्णरूप मे तात्पय जाना जा सके। तो फिर मैं यही कहूगा कि 'विश्वास' किसी भी विषय की कल्पनामात्र से पुरस्कृत धारणा की अपेक्षा, कही अधिक सुस्पष्ट, सजीव, तीव्र, दृढ एव स्थायी कारण है। यह शब्द भेद, जो सम्भवत अदार्शनिक सा प्रतीत होता है उस मानसिक व्यापार का बोध कराता है जो तथ्य को काल्पनिक की अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से हमारे आगे उपस्थित करता है, हमारी उस विचार परम्परा मे अधिक महत्व दिलवाता है तथा हमारी भावनाओ तथा कल्पनाओ पर अधिक गौरवशाली प्रभाव प्रदान करता है। यदि हम इस तत्व पर सहमत हैं तो शब्दावली पर विवाद सर्वथा अनावश्यक है। ऊहापोह का सर्वविध विचारो पर अधिकार होता है और वह चाहे जिस तरह उन्हे सयुक्त अथवा सम्मिश्र बना सकता है, उन्हे परिवर्तित भी कर सकता है। वह देश और काल का हर तरह का सयोग देकर कल्पित पदार्थों की भी धारणाएँ बना सकता है, वह चाहे तो उन्हें हमारी आँखो के सामने उन पदार्थों को ऐसा वास्तविक वणयोग दे सकता है मानो वे वास्तव मे कभी रहे हो। परन्तु चूँकि यह असम्भव है मन की यह ऊहात्मकशक्ति आप ही आप विश्वास-कोटि तक पहुँच जाय, यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वास धारणाओ का एक विशिष्ट क्रम या

निसर्ग नहीं है, परन्तु धारणा का प्रकार विशेष तथा मानसिक भावना विशेष है। मैं यह स्वीकार करता है कि इस धारणा का प्रकार तथा भाव का विशदीकरण पूर्णरूप से असम्भव है। हम ऐसी ही वाक्यावली का प्रयोग कर सकते हैं जो उनके तात्पर्य के निकट तक पहुँच जाय। हम जैसा ऊपर कह आये हैं प्रस्तुत धारणा का उचित एव वास्तविक नाम 'विश्वास' ही हो सकता है जिसे हर व्यक्ति अपने सामान्य जीवन मे खूब समझता हैं। दर्शन की रूह से हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते कि 'विश्वास' एक ऐसी धारणा है जो मनोगम्य है और जो ऊहात्मक कल्पनाओ से, एव विचारो को विविक्त करती है। वह अपने विषय को अधिक महत्व एव प्रभाव सम्पन्न करती है, उन्हे अधिक गौरवशाली रूप देती है, हमारे मस्तिष्क पर सबल रूप मे अंकित करती है और उन्हे हमारे कार्यो के नियामक सिद्धात का रूप दे देती है। उदाहरणार्थ अभी किसी व्यक्ति की आवाज सुनता हू जिससे मैं परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज़ सुनता हू जिससे मैं परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज पडोस के कमरे मे आ रही है। मेरी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत यह विषय मुझे तुरन्त उस व्यक्ति का भान करा देता है और साथ ही साथ उसकी तमाम आसपास की चीजो का भी। मैं उन सबसे ऐसा चित्रित कर लेता हू मानो वे सब मेरे सामने साक्षात उपस्थित हो और साथ ही साथ उन सबके धर्मो और सम्बन्धो का भी चित्रण कर लेता है जिन्हे मैं उनके साथ वर्तमान जानता रहा हू। ये सब बातें मेरे मन मे अधिक तीव्रता से समा जाती है जैसी गन्धर्वपुरी की भावना मे भी नहीं होती। वे भावात्मक व्यापार से बिलकुल भिन्न होती हैं और तरह से सुख-दुख या हर्ष-विषाद मे अधिक प्रभावशाली बनी रहती हैं।

४१ तो अब हमे इस सिद्धात की समूची परिधि की ओर ध्यान देते हुए यह मान लेना चाहिए कि विश्वास की भावना रूहो की काल्पनिक सृष्टि की अपेक्षा अधिक तीव्र एव स्थायी धारणा को छोड और कुछ नहीं है और वह धारणा का प्रकार गृहीत वस्तु का किसी पूर्व प्रत्यक्षित अथवा

स्मृतिगत सस्कार के साथ अनेक बार देखे हुए सयोग का प्रतिफल मान है। मै यह भी समझता हू कि इन मान्यताओ के आधार पर मानव मन के अन्य तत्सदृश व्यापारो को जानना और उनके कार्यो का इससे भी अधिक सामान्य सिद्धान्तो के साथ सम्बन्ध ढूढ निकालना कुछ कठिन न होगा।

हम यह पूर्व मे ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति ने विचारगत परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर रखा है और ज्यूही एक विचार आता है वह तुरन्त ही अपने से सम्बद्ध अन्य विचार को ले आता है और उस ओर हमारे ध्यान को अविदित, मन्दगति से आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार के सयोग अथवा साहचर्य नियम को त्रिधी मान सकते है—सादृश्य, सायुज्य अथवा प्रजनन, ये ही तीन ऐसे अनुबन्ध हैं जो हमारे विचारो को एकत्र करते हैं और विचार अथवा सवाद की उस अनुस्यूत परम्परा को प्रवाहित करते है जिसे हम सकल मानव जाति मे न्यूनाधिक मात्रा मे पाते हैं। अब यहा एक प्रश्न अवश्य उठता है जिस पर प्रस्तुत समस्या का हल अवलम्बित है। क्या यह बात सब सम्बन्धो के विषय मे मानी जा सकती है कि जब वस्तु जगत् मे से किसी एक के भी इन्द्रियगोचर अथवा स्मृतिगत होने पर मानव मन न केवल तत्सम्बन्ध की धारणा कर लेता है वरन् वह किसी भी साधनान्तर द्वारा प्राप्त धारणा की अपेक्षा अधिक तीव्र एव स्थिर धारणा को बना पाता है ? यह मान्यता प्रजनन नियम के अन्तर्गत हेतु और हेतु-मान् के सम्बन्ध मे तो अवश्य सत्य दीख पडती है। और यदि यही बात अन्य सन्निकर्षो के अथवा साहचर्य नियमो के सम्बन्ध मे पायी जाय तो यह फिर मानव मन के समस्त व्यापारो मे वर्तमान एक व्यापक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत की जा सकती है।

अब हमे हमारे लक्ष्य साधन के हेतु प्रथम प्रयाग के रूप मे यह समझना चाहिये—जब हम किसी अनुपस्थित मित्र का चित्र देखते हैं तो कल्पना सादृश्य केवल तुरन्त ही उभर आती है और तज्जन्य प्रत्येक भाव सुखात्मक या दुखात्मक एक नये सवेग तथा तीव्रता को धारण कर लेता है। इस प्रभाव

निसर्ग नहीं है, परन्तु धारणा का प्रकार विशेष तथा मानसिक भावना विशेष है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस धारणा का प्रकार तथा भाव का विशदीकरण पूर्णरूप से असम्भव है। हम ऐसी ही वाक्यावली का प्रयोग कर सकते हैं जो उसके तात्पर्य के निकट तक पहुँच जाय। हम जैसा ऊपर कह आये हैं प्रस्तुत धारणा का उचित एवं वास्तविक नाम 'विश्वास' ही हो सकता है जिसे हर व्यक्ति अपने सामान्य जीवन मे खूब समझता हैं। दर्शन की रूह से हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते कि 'विश्वास' एक ऐसी धारणा है जो मनोगम्य है और जो ऊहात्मक कल्पनाओ मे, एवं विचारो को विविक्त करती है। वह अपने विषय को अधिक महत्व एवं प्रभाव सम्पन्न करती है, उन्हे अधिक गौरवशाली रूप देती है हमारे मस्तिष्क पर सबल रूप मे अंकित करती है और उन्हे हमारे कार्यो के नियामक सिद्धांत का रूप दे देती है। उदाहरणार्थ अभी किसी व्यक्ति की आवाज सुनता हू जिससे मैं परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज सुनता हू जिससे मैं परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज पडोस के कमरे मे आ रही है। मेरी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत यह विषय मुझे तुरन्त उस व्यक्ति का भान करा देता है और साथ ही साथ उसकी तमाम आसपास की चीजो का भी। मैं उन सबसे ऐसा चित्रित कर लेता हू मानो वे सब मेरे सामने साक्षात उपस्थित हो और साथ ही साथ उन सबके धर्मो और सम्बन्धो का भी चित्रण कर लेता है जिन्हे मैं उनके साथ वर्तमान जानता रहा हू। ये सब बातें मेरे मन मे अधिक तीव्रता से समा जाती है जैसी गन्धर्वपुरी की भावना मे भी नही होती। वे भावात्मक व्यापार से बिलकुल भिन्न होती है और तरह से सुख-दुख या हर्ष-विषाद मे अधिक प्रभावशाली बनी रहती है।

४१. तो अब हमे इस सिद्धांत की समूची परिधि की ओर ध्यान देते हुए यह मान लेना चाहिए कि विश्वास की भावना रूहो की काल्पनिक सृष्टि की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं स्थायी धारणा को छोड और कुछ नहीं है और वह धारणा का प्रकार गृहीत वस्तु का किसी पूर्व प्रत्यक्षित अथवा

स्मृतिगत सस्कार के साथ अनेक बार देखे हुए सयोग का प्रतिफल मान है। मैं यह भी समझता हू कि इन मान्यताओ के आधार पर मानव मन के अन्य तत्सदृश व्यापारो को जानना और उनके कार्यो का इससे भी अधिक सामान्य सिद्धान्तो के साथ सम्बन्ध ढूढ निकालना कुछ कठिन न होगा।

हम यह पूव मे ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति ने विचारगत परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर रखा है और ज्यूंही एक विचार आता है वह तुरन्त ही अपने से सम्बद्ध अन्य विचार को ले आता है और उस ओर हमारे ध्यान को अविदित, मन्दगति से आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार के सयोग अथवा साहचय नियम को त्रिधा मान सकते है—सादृश्य, सायुज्य अथवा प्रजनन, ये ही तीन ऐसे अनुबन्ध है जो हमारे विचारो को एकत्र करते हैं और विचार अथवा सवाद की उस अनुस्यूत परम्परा को प्रवाहित करते है जिसे हम सकल मानव जाति मे न्यूनाधिक मात्रा मे पाते हैं। अब यहा एक प्रश्न अवश्य उठता है जिस पर प्रस्तुत समस्या का हल अवलम्बित है। क्या यह बात सब सम्बन्धो के विषय मे मानी जा सकती है कि जब वस्तु जगत् मे से किसी एक के भी इन्द्रियगोचर अथवा स्मृतिगत होने पर मानव मन न केवल तत्सम्बन्ध की धारणा कर लेता है वरन् वह किसी भी साधनान्तर द्वारा प्राप्त धारणा की अपेक्षा अधिक तीव्र एव स्थिर धारणा को बना पाता है? यह मान्यता प्रजनन नियम के अन्तर्गत हेतु और हेतु-मान् के सम्बन्ध मे तो अवश्य सत्य दीख पडती है। और यदि यही बात अन्य सन्निकर्षो के अथवा साहचर्य नियमो के सम्बन्ध मे पायी जाय तो यह फिर मानव मन के समस्त व्यापारो मे वर्तमान एक व्यापक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत की जा सकती है।

अब हमे हमारे लक्ष्य साधन के हेतु प्रथम प्रयाग के रूप मे यह समझना चाहिये—जब हम किसी अनुपस्थित मित्र का चित्र देखते है तो कल्पना सादृश्य केवल तुरन्त ही उभर आती है और तज्जन्य प्रत्येक भाव सुखात्मक या दुखात्मक एक नये सवेग तथा तीव्रता को धारण कर लेता है। इस प्रभाव

निमर्ग नहीं है, परन्तु धारणा का प्रकार विशेप तथा मानसिक भावना विशेष है। मैं यह म्वीकार करना है कि इस धारणा का प्रकार तथा भाव का विशदीकरण पूणरूप से असम्भव है। हम ऐसी ही वाक्यावली का प्रयोग कर सकते हैं जो उनके नात्पय के निकट तक पहुँच जाय। हम जैसा ऊपर कह आये हैं प्रस्तुन धारणा का उचित एव वास्तविक नाम 'विश्वास' ही हो सकता हैं जिसे हर व्यक्ति अपने मामान्य जीवन मे खूव समझता हैं। दर्शन की रूह से हम इससे अविक कुछ नही कह सकते कि 'विश्वास' एक ऐसी धारणा है जो मनोगम्य है और जो ऊहात्मक कल्पनाओं से, एव विचारो को विविक्त करती है। वह अपने विपय को अविक महत्व एव प्रभाव मम्पन्न करती हैं, उन्हे अधिक गौरवशाली रूप देती हैं हमारे मस्तिष्क पर सवल रूप मे अंकित करती हैं और उन्हे हमारे कायो के नियामक मिद्धात का रूप दे देती हैं। उदाहरणार्थ अभी किसी व्यक्ति की आवाज सुनता हू जिससे मैं परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज मुनता हू जिससे मै परिचित हू और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज पडोस के कमरे मे आ रही है। मेरी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत यह विपय मुझे तुरन्त उस व्यक्ति का भान करा देता है और साथ ही साथ उसकी तमाम आसपास की चीजो का भी। मै उन सवसे ऐसा चित्रित कर लेता हू मानो वे सव मेरे सामने साक्षात उपस्थित हो और साथ ही साथ उन सवके धर्मो और सम्वन्धो का भी चित्रण कर लेता है जिन्हें मैं उनके साथ वर्तमान जानता रहा हू। ये सव वाते मेरे मन मे अविक तीव्रता से समा जाती है जैसी गन्धर्वपुरा की भावना मे भी नही होती। वे भावात्मक व्यापार से विलकुल भिन्न होती हैं और तरह से सुख-दुख या हर्प-विपाद मे अविक प्रभावशाली वनी रहती हैं।

४१. तो अव हमे इस सिद्धात की ममूची परिधि की ओर ध्यान देते हुए यह मान लेना चाहिए कि विश्वास की भावना रूहो की काल्पनिक सृष्टि की अपेक्षा अविक तीव्र एव स्थायी धारणा को छोड और कुछ नही है और वह धारणा का प्रकार गृहीत वस्तु का किसी पूर्व प्रत्यक्षित अथवा

स्मृतिगत सस्कार के साथ अनेक बार देखे हुए सयोग का प्रतिफल मान है। मैं यह भी समझता हू कि इन मान्यताओ के आधार पर मानव मन के अन्य तत्सदृश व्यापारो को जानना और उनके कार्यो का इससे भी अधिक सामान्य सिद्धान्तो के साथ सम्बन्ध ढूढ निकालना कुछ कठिन न होगा।

हम यह पूर्व मे ही सिद्ध कर चुके है कि प्रकृति ने विचारगत परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर रखा है और ज्यूंही एक विचार आता है वह तुरन्त ही अपने से सम्बद्ध अन्य विचार को ले आता है और उस ओर हमारे ध्यान को अविदित, मन्दगति से आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार के सयोग अथवा साहचर्य नियम को त्रिविध मान सकते है—सादृश्य, सायुज्य अथवा प्रजनन, ये ही तीन ऐसे अनुबन्ध है जो हमारे विचारो को एकत्र करते हैं और विचार अथवा सवाद की उस अनुस्यूत परम्परा को प्रवाहित करते हैं जिसे हम सकल मानव जाति मे न्यूनाधिक मात्रा मे पाते हैं। अब यहा एक प्रश्न अवश्य उठता है जिस पर प्रस्तुत समस्या का हल अवलम्बित है। क्या यह बात सब सम्बन्धो के विषय मे मानी जा सकती है कि जब वस्तु जगत् मे से किसी एक के भी इन्द्रियगोचर अथवा स्मृतिगत होने पर मानव मन न केवल तत्सम्बन्ध की धारणा कर लेता है वरन् वह किसी भी साधनान्तर द्वारा प्राप्त धारणा की अपेक्षा अधिक तीव्र एव स्थिर धारणा को बना पाता है? यह मान्यता प्रजनन नियम के अन्तर्गत हेतु और हेतु-मान् के सम्बन्ध मे तो अवश्य सत्य दीख पडती है। और यदि यही बात अन्य सन्निकर्षो के अथवा साहचर्य नियमो के सम्बन्ध मे पायी जाय तो यह फिर मानव मन के समस्त व्यापारो मे वर्तमान एक व्यापक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत की जा सकती है।

अब हमे हमारे लक्ष्य साधन के हेतु प्रथम प्रयाग के रूप मे यह समझना चाहिये—जब हम किसी अनुपस्थित मित्र का चित्र देखते है तो कल्पना सादृश्य केवल तुरन्त ही उभर आती है और तज्जन्य प्रत्येक भाव सुखात्मक या दुखात्मक एक नये सवेग तथा तीव्रता को धारण कर लेता है। इस प्रभाव

के प्रादुर्भाव मे सादृश्य सम्बन्ध तथा तात्कालिक सस्कार दोनो ही युगपत काम करते है। जब चित्र उसके स्वरूप के साथ सादृश्य नही रखता तब वह हमारे विचारो को उतनी उत्तेजना नही देता और जब चित्र भी न हो और न वह व्यक्ति हो तो मन चाहे एक की कल्पना कर दूसरे की ओर दौड जाय, पर वह यह अनुभव करता है कि उसके विचार उस दशा मे अपनी गतिविधि द्वारा कही दुर्बल हुये है न कि सबल एव जागृत। हमे मित्र के चित्र देखने मे प्रमोद होता है जब वह सामने रखा जाय, मगर जब हटा दिया जाय तो हम उसकी प्रतिमा का ध्यान कर साक्षात् उस पर विचार करना अधिक पसन्द करेंगे जब कि वह उतना ही दूरस्थ और ओझल रहता है।

इसी प्रकार के उदाहरण हमे रोमन कैथलिक धर्मावलम्बियो के उत्सवों मे भी मिलते हैं। इस धर्म के अनुयायी ऐसा मानते है और प्रतिमा पूजन के पक्ष मे यह युक्ति देते हैं। जिसके सम्बन्ध मे वे प्राय निन्दित किये जाते है कि आसनादि बाह्य क्रियाओ के कारण उन पर अपने भक्तिभाव को जागृत करने तथा रसोद्रेक को प्रगति सम्पादन करने मे ऐसा अधिक प्रभाव पडता है जो अमूर्त एव दूरस्थ विषयो की ओर निर्विकल्पक रूप मे प्रेरित किये जाने पर क्षीण हो जाया करते हैं। उनका कथन है कि ऐसा करने से वे अपने आराध्य इष्ट की प्रत्यक्ष एव मूर्तरूप मे प्रतिच्छाया उपस्थित कर उनके द्वारा इष्टदेव के साथ कही अधिक निकट सम्पर्क स्थापित करने मे समर्थ हो जाते हैं जो अन्यथा केवल ध्यानात्मक धारणा से सिद्ध नही हो सकता। मूर्तरूप हमारी धारणाओ पर अमूर्त की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादन करते हैं, और वह प्रभाव सादृश्य के कारण अपने अनुयोगी का स्वरूप अधिक सजीवता से उपस्थित करते हैं। इन परम्पराओ तथा युक्तियो से मैं इतना ही अनुमान करता हूँ कि भावनाओ को प्रबुद्ध करने मे सादृश्य का प्रभाव जनसाधारण के अनुभव से सिद्ध है और चूंकि हर हालत मे सादृश्य और तज्जन्य तात्कालिक ससार सदा सहयोगी होते हैं हमारे पास पूर्वोक्त सादृश्य नियम की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त प्रयोगात्मक सामग्री हो गयी है।

४२ हम उपर्युक्त प्रयोगो की प्रामाणिकता को अन्य प्रकार के

प्रयोगो द्वारा और भी अधिक दृढ बना सकते है और एतदर्थ सायुज्य एव सादृश्य के प्रभावो का अध्ययन अव किया जाय। यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक भावना की तीव्रता का ह्रास दूरस्थता कर देती है, और किसी भी विषय का विचार मन को तत्सम्बद्ध विषय की ओर ले जाता है परन्तु विषय की साक्षात उपस्थिति ही एक ऐसा साधन है जो हमारे मन की उत्कृष्ट सजीवता को विषयग्राही बनाता है। जब मैं घर से कुछ ही मील दूर होता हू तो वह मेरे मानस चित्र मे अधिक निकट उपस्थित होता है अपेक्षाकृत उस अवस्था मे जब मै घर से कई कोसो दूर होऊ यद्यपि ऐसी दशा मे भी मेरे मित्रो तथा परिवार के सम्पर्क की भावना अवश्य ही उनका चित्र मेरे समक्ष उपस्थित कर देती है। दूरवर्ती दशा मे दोनो ही विषय भावनामात्र है जो कि एक से दूसरी ओर प्रगमन सहज एव सुलभ है। इतना होते हुए भी वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर गति ही स्वय, अव्यवहृत सस्कार के अभाव मे मानसिक चित्रो को उत्कृष्ट सजीवता प्रदान करने मे असमर्थ होती है। कोई भी इसमे सन्देह नही कर सकता कि जितना प्रभाव सादृश्य एव सायुज्य सम्बन्ध रखते है उतना ही प्रजनन सम्बन्ध भी रखता है। श्रद्धालु जनता सन्त महात्माओ के चित्र या परिशेष स्मारक इसी भावना से रखती है कि उनकी प्रतिमा अथवा प्रतीक भक्तिभाव को सजीव बनाने के साधन होते हैं और उनके आदर्श अनुकरणीय आत्मा के साथ उनका सम्पर्क इन साधनो द्वारा अधिक निकट स्थापित हो जाता है और उनकी कल्पना उन्हे अधिक दृढ, सजीव एव सुव्यक्त हो जाती है। यह बिलकुल स्पष्ट है कि सर्वोत्तम प्रतीक तो वही है जो किसी सन्त का चित्र हो और यदि उसके वस्त्र तथा अन्य दैनिक उपकरण भी इसी कोटि के माने जाय तो उसका रहस्य भी यही है कि वह सामग्री रात-दिन उस सन्त के सायुज्य मे थी और उनका दर्शन भी उसी महात्मा का स्मारक बन जाता है। तथापि ये सब साधन अपूर्ण या हीन प्रभाव के ही उत्पादक होते है, उनका सम्पर्क स्वल्पकालीन होने के कारण श्रद्धेय सन्त की मूर्त अवस्था के सम्पर्क की अपेक्षा निम्न प्रभावशाली ही गिना जा सकता है।

४३. मान लो कि अपने मित्र का पुत्र कई दिनो की अनुपस्थिति के पश्चात्

सामने लाकर खडा कर दिया जाय तो यह निश्चित है कि वह सम्बद्ध सकल भावनाओं को उद्बुद्ध कर अतीत सम्पर्क एव स्नेह को अधिक सजीवता के साथ उभार देगा जो अन्यथा प्रतीक द्वारा जगायी नही जा सकती। यह एक अन्य निदर्शन ह जो उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ करता है।

४४ यहा यह समझा जा सकता है कि सम्बद्ध वस्तुजगत् मे विश्वास पूर्वगृहीत ही था, अन्यथा सायुज्य सम्बन्ध कोई भी प्रभाव उत्पन्न नही कर पाता। चित्र का प्रभाव इसी आधार पर माना जाता है कि हमे यह विश्वास बना हुआ है कि हमारा वह मित्र कभी असलियत मे था। अपने घर का सानिध्य हमे घर की भावना को भी उद्बुद्ध न कर सकेगा यदि हमे घर की सत्ता मे ही विश्वास न हो। अब मै यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हू कि जहा-जहा यह विश्वास अनुभव अथवा स्मृति से व्यतिरिक्त विषयगत होता है तो सदा सर्वत्र एकसा ही होता है और सदृशकारणो से ही उत्पन्न होता है और उसका बीज वही विचारगति तथा धारणा की सजीवता है जिसका विवरण ऊपर किया जा चुका है। जब मै प्रज्वलित अग्नि मे शुष्क ईधन को डालता हू तो मेरा मन तुरन्त ही यह सोच लेता है कि वह ज्वाला को बढाने वाला है, बुझानेवाला नही। यह विचार की दौड कारण से कार्य की ओर प्रस्तुत हुई है, बुद्धि के बल नही। इस दौड का उद्गम सर्वथा अनुभव और उसका पौन पुन्य है। कारण यह धारणा सर्वप्रथम प्रत्यानुभव से उत्पन्न हुई थी और वह ज्वाला सम्बन्धी विचार अथवा धारणा को अधिक स्पष्ट एव सजीव रूप देती है जो केवल कल्पना की शिथिल एव क्षणिक मनोवृत्ति द्वारा पैदा नही की जा सकती। वह तुरन्त ही पैदा हो जाता है। हमारा चित्त एकदम उधर दौड पडता है और उस धारणा का समूचा बल दे देता है जिसे हमने किसी समय प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त किया था? (मानो मेरी छाती पर कोई कटार अडा देता है तो तब नही आता जब कोई मदिरा का प्याला लाकर टिकाता है जो सयोगवश उसे भी देखकर वैसा ही ख्याल मुझे तब भी होना जरूर चाहिए।) इस सारे प्रसग मे ऐसी दृढ धारणा होने का कारण आखिर है क्या? सिवाय इसके कि वहा कोई चीज सामने है और उसे देखते ही उसके साथ सदा लगे हुए दूसरे ख्याल या अभ्यास जो कि एक को दूसरे के साथ चटपट

जोड देता है। यह कुल मन का व्यापार है, ख्याली तरीका है और यह असलियत की खोज और उसकी सत्ता के सम्बन्ध में किये जाने वाले तमाम निर्णयो मे पाया जाता है। और यही सन्तोपजनक है कि हम कुछ ऐसी सदृश्यताएँ देख पाते हैं जो इस मनोवृति को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देती है। प्रत्यक्ष रूप से वतमान मूत पदार्थ से तत्सम्बद्ध कल्पना हमेशा दृढ और ठोस हो तो यह निश्चित है कि नैसर्गिक क्रम तथा हमारे विचारा की परम्परा मे पूव सिद्ध एकतानत है। यद्यपि वे शक्तिया जो कि नैसर्गिक क्रम को सूत्रबद्ध करती है हमे शायद मालूम न भी हो तथापि हमारे विचार और धारणाए, हम देखते हैं, उसी पद्धति का अनुसरण करती है जैसी और प्राकृतिक क्रियाए करती हैं। अभ्यास अथवा पौन पुन्य ही एक ऐसा सिद्धात है जिससे पारस्परिक सम्वाद स्थापित किया जाता है और वह हमारी जाति की स्थिति के लिये इतना आवश्यक है कि इसी से हमारी कार्यप्रणाली मे एक प्रकार नियमितता पायी जाती है चाहे वह हमारे जीवन की कैसी ही घटना या परिस्थिति मे क्यो न हुई हो। यदि पदाथ की प्रत्यक्ष सत्ता तत्सम्बद्ध अन्य सकल वस्तुजगत् की कल्पना को जागृत न करती होती तो हमारा समूचा ज्ञान केवल स्मृति तथा साक्षात् अनुभव की सीमित परिधि मे ही मर्यादित रहता और हम साधन मे साध्य का सम्बन्ध भी घटित न कर पाते और न हम अपनी शक्तियो को हित साधन मे अथवा अमगल के निवारण मे कभी लगा सकते। जो चरम कारण के अन्वेषण तथा चिन्तन मे ही आह्लाद प्राप्त करने वाले हैं उनके लिए यहा चमत्कार तथा श्लाघा का विषय खूब मिल जाता है।

४५ पूर्व प्रतिपादित वाद को और अधिक पुष्ट करने के हेतु मै एक और उपपत्ति रखना चाहता हू। तुल्य कार्यो से तुल्य कारणो का अनुमान अथवा तुल्य कारणो से तुल्य कार्यो का अनुमान करने वाला मनोव्यापार प्राणिमात्र के जीवन के लिए इतना आवश्यक है कि यह सम्भव नही कि इन अमूल्य जीवन को हमारी बुद्धि के हेत्वभासपूर्ण निगमनो के भरोमे छोड दिया जाय, कारण हमारी बुद्धि अपने व्यापार मे मन्द होती है और शैशव के प्रारम्भिक वर्षो मे किसी भी मात्रा मे प्रस्फुरित नही होती और अपने अपने सर्वोत्तम विकास के समय भी, मानव जीवन के प्रत्येक आयु-

भाग तथा कालक्रम मे इसका सशय विपर्यय मे पड जाना नितान्त सम्भावित है। अतएव इतने परमावश्यक मनोव्यापार को भ्रम से सुरक्षित रखना ही बुद्धिमानी है और उसके आधार के लिए कोई ऐसी नैसर्गिक चेतना या सहजवृत्ति को ही बनाना चाहिए जो अपने काम मे कभी गलती न करने वाली हो और जो हमारे जीवन एव विचार के प्रथम प्रादुर्भाव के साथ ही प्रकट होती हो और जो बुद्धि द्वारा हठात् एव श्रमपूर्वक उपलब्ध निर्णयो से सदा स्वतन्त्र रहे। जिस तरह प्रकृति हमे अपने स्नायु, धमनी आदि का ज्ञान न होते हुए भी अपने गात्रों का उपयोग करना जन्मत सिखा देती हैं उसी तरह उसने हममे एक ऐसी चेतना भी रख दी है जिसके बल पर हमारे मन मे आप ही आप उसी प्रकार की आभ्यन्तर विचारो की सम्बद्ध परम्परा बहती जाती है जैसी कि बाह्यपदार्थों मे निसर्ग ने रखी है। यद्यपि हम उन सब अन्तर्हित शक्तियो से अपरिचित भी हो जिन पर पदार्थों की उत्पत्ति का सतत् प्रवाह एव अनुक्रम निर्भर रहता है तथापि हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा कार्यकारण भाव को बुद्धि के अविश्वसनीय व्यापारो का अवलम्बन लेकर ही अपनी नैसर्गिक सहज चेतना के बल पर हर आयु, अवस्था एव दशा मे समझने मे समर्थ होते हैं।

छठा परिच्छेद

सम्भाव्यता[1]

यद्यपि इस ससार मे दिष्ट या अवसर जैसी कोई वस्तु नही है, तथापि किसी भी घटना विशेष का तात्विक कारण हमे न विदित होने के कारण हमारा यह अज्ञान हमारी बुद्धि पर वैसा एक प्रभाव डालता है जिससे हम इस प्रकार की मति या विश्वास रखने लगते है।

४६ हा, सम्भाव्यता अवश्य एक वस्तु है जो किसी भी घटना के होने या न होने के सयोग मे अधिकतर शक्यता के कारण उत्पन्न होती है और ज्यो-ज्यो यह शक्यता बढती जाती है, विरोधी अवसरो का वह क्षीण कर देती है। इस वजह सम्भाव्यता अपेक्षाकृत वृद्धि को पाकर अपने और अधिक मात्रा मे दृढ विश्वास को जमा देती है जिसे हम वरिष्ठ शक्यता कहते हैं। यदि किसी साँचे को किसी एक चित्र अथवा अनेक विन्दुओ से चारो ओर अकित कर दिया जाय और शेष दो भाग पर कोई दूसरा चित्र अथवा अन्य किसी स्वरूप के विन्दुओ का समूह अकित कर दिया जाय, यह अधिक सभव है कि प्रथम मुद्राए द्वितीय की अपेक्षा अधिक बार घूमेगी, और उसी तरह यदि उस साचे के मान लो हजार वाजू हो

---

१ श्रीयुत लाक समग्र तर्को को निर्देशक तथा सम्भाव्य तर्कों मे विभक्त करते हैं। इस दृष्टि से, हमे कहना होगा कि यह वस्तु केवल सम्भावित ही है कि सब मानव गतिशील हैं अथवा यह कहना कि सूर्य फिर कल उदित होगा। परन्तु यही बात यदि हम जनसामान्य की व्यवहारिक भाषा मे कहें तो हमे तर्क को त्रिधा–विभक्त करना चाहिये। १ निदर्शनात्मक, २ प्रमापक, ३ सम्भाव्य। प्रमापक तर्क से हमारा आशय उन तर्कों से है जो अनुभवमूल होकर सशय या विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं छोडते।

और उनमे एक छोडकर सब पर एक-सी ही मुद्राए अकित की गयी हो और केवल एक पर ही भिन्न प्रकार की हो तो प्रथम के आवर्तन की सम्भाव्यता और अधिक बढ जायगी और उस घटना के होने की आशा अथवा भविष्य सत्ता मे हमारा विश्वास और भी अधिक दृढ एव स्थिर हो जायगा। यह उपपत्ति अथवा विचारक्रम चाहे तुच्छ एव अस्पष्ट क्यो न प्रतीत हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालो को तो वह विचारार्थ कौतुकपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती ही है।

८७ यह स्पष्ट है कि जब हमारा मन उस साचे को फेकने पर पैदा होने वाली घटना की कल्पना करता है, वह किसी भी पहलू से उसके गिरने की सम्भावना मानता है और इसे ही वास्तव मे दिष्ट या अवसर कहते हैं जिसमे सद्गत समस्त परिणामो के लिए एक-सा अवसर या सभाव्यता पायी जाती हो। परन्तु यह देखना है कि अधिकाश पहलू एक सी मुद्रा को ही लिये है मन अधिकतर उसी मुद्रा की ओर बना रहता है और शक्यता अथवा अवसर के चक्र मे उसकी ही स्थिति अधिक बार पाता है जिस पर हमारा अन्तिम निगमन आधारित है। एक ही घटना विशेष मे विभिन्न पहलुओ का पुरावर्तन तुरन्त ही, किसी नैसर्गिक अतर्क्य क्रम के कारण विश्वास की भावना को पैदा करता है और उस घटना को उसके प्रतियोगी की अपेक्षा महत्व दे देता है। कारण प्रतियोगी का आवर्त्तन अपेक्षाकृत कम बार उपस्थित हो अल्पाश्रित ही रह जाता है। यदि हम यह मान लें कि विश्वास वस्तुगत वह धारणा है जो कल्पित वस्तु की कल्पित सत्ता की अपेक्षा अधिक तीव्र एव दृढ होती है, तो स्यात् हम किसी सीमा तक इस मनोव्यापार का मूल कारण बताने मे समर्थ हो सकें। कल्पना की अपेक्षा यह प्रत्यक्ष दृष्ट पुनरावृत्ति कही हमारे मन पर अधिक दृढ भावना को अकित करती है, उसे अधिक शक्ति एव स्फूर्ति देती है, हमारे भावो तथा भावनाओ को अधिक प्रभावित करती है या एक शब्द मे कहे कि वह उस आधार तथा अनुच्छेद निर्भरता को उत्पन्न करती है जो हमारी मति एव विश्वास के यथार्थ स्वरूप का घटक है।

कारणगत सम्भाव्यता और दिष्ट प्राय समकोटि के ही है। कुछ

कारण ऐसे होते है जो सदा कार्य विशेष की उत्पादन विधि मे एक रूप और निरन्तर रहते हैं और अद्यावधि उनकी क्रिया मे एक भी उदाहरण विफलता अथवा अनियमितता का उपलब्ध नही होता। अग्नि ने सदा ही दाहकता का निदर्शन दिया और जल ने हमेशा प्राणिमात्र को निमज्जन का ही। चेतना एव आकर्षण के द्वारा गति की उत्पत्ति का नियम एक सामान्य व्याप्ति है जिसने आज तक किसी अपवाद को अवसर नही दिया। परन्तु कुछ ऐसे भी कारण होते है जो कुछ अनियत एव अनिश्चित पाये जाते हैं—जमालगोटा सदा रेचक नही होता और न अफीम ही सबसे सदा निद्राजनक ही होती है। यह ठीक है कि जब भी कोई कारण अपने निजी परिणाम को पैदा करने मे विफल पाया जाता है तो दार्शनिक लोग इस विफलता का कारण प्रकृति की अनियमितता नही मानते, वरन् यही मानते है कि कुछ अन्तर्हित कारण है कि जिसने किसी स्थान पर मूल कारण ने व्यापार का प्रतिरोध किया है। घटना सम्बन्धी हमारे तर्क तथा निगमन मे मानो इस सिद्धात को कही स्थान ही नही हो। अभ्यासवश अतीत से भावी पर जाने की सर्वविधि अनुमान की प्रक्रिया निश्चित होने के कारण जहा-जहा अतीत ने एकरूपता एव नियमितता प्रदर्शित की है, हम उस अतीत के आधार पर भविष्यत् की सम्भावना अधिक विश्वस्तता से करते है और तद्विपरीत मान्यता के लिये कोई अवकाश नही देते। परन्तु जहा आपातत सदृश कारणो से विभिन्न कार्यो का प्रजनन हम पाते है तब अतीत से भविष्यत की कल्पना करते समय उन सब ही विभिन्न परिणामो को हमारे मन मे उपस्थित करना चाहिए और सब का विचार यथोचित किये जाने पर ही किसी घटना या परिणाम विशेष की सम्भाव्यता हम निश्चित कर सकते है। यद्यपि हम अधिकतर प्राधान्य उसे ही देते हैं जो परिणाम अधिकतर किसी कारण विशेष से निकला हो और हम उसी की पुनरावृत्ति की सम्भावना भी करते हो, पर हमे अन्य परिणामो की कल्पना को भी उपेक्षित नही करना चाहिये वरन् हमे प्रत्येक परिणाम को अपनी अपनी आवृत्ति की सख्या के आधार पर अनुपातश महत्व तथा प्रामाण्य देना चाहिए।

यूरोप के प्राय प्रत्येक प्रदेश मे यह अधिक सम्भव है कि जनवरी में

और उनमे एक छोडकर सव पर एक-सी ही मुद्राए अकित की गयी हो और केवल एक पर ही भिन्न प्रकार की हो तो प्रथम के आवर्तन की सम्भाव्यता और अधिक बढ जायगी और उस घटना के होने की आशा अथवा भविष्य सत्ता मे हमारा विश्वास और भी अधिक दृढ एव स्थिर हो जायगा। यह उपपत्ति अथवा विचारक्रम चाहे तुच्छ एव अस्पष्ट क्यो न प्रतीत हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालो को तो वह विचारार्थ कौतुकपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती ही है।

४७ यह स्पष्ट है कि जव हमारा मन उस साचे को फेंकने पर पैदा होने वाली घटना की कल्पना करता है, वह किसी भी पहलू से उसके गिरने की सम्भावना मानता है और इसे ही वास्तव मे दिष्ट या अवसर कहते है जिसमे सद्गत समस्त परिणामो के लिए एक-सा अवसर या सभाव्यता पायी जाती हो। परन्तु यह देखना है कि अधिकाश पहलू एक सी मुद्रा को ही लिये हैं मन अधिकतर उसी मुद्रा की ओर वना रहता है और शक्यता अथवा अवसर के चक्र मे उसकी ही स्थिति अधिक वार पाता है जिस पर हमारा अन्तिम निगमन आधारित है। एक ही घटना विशेष मे विभिन्न पहलुओ का पुरावर्तन तुरन्त ही, किसी नैसर्गिक अतर्क्य क्रम के कारण विश्वास की भावना को पैदा करता है और उस घटना को उसके प्रतियोगी की अपेक्षा महत्व दे देता है। कारण प्रतियोगी का आवर्तन अपेक्षाकृत कम बार उपस्थित हो अल्पाश्रित ही रह जाता है। यदि हम यह मान लें कि विश्वास वस्तुगत वह धारणा है जो कल्पित वस्तु की कल्पित सत्ता की अपेक्षा अधिक तीव्र एव दृढ होती है, तो स्यात् हम किसी सीमा तक इस मनोव्यापार का मूल कारण वताने मे समर्थ हो सकें। कल्पना की अपेक्षा यह प्रत्यक्ष दृष्ट पुरावृति कही हमारे मन पर अधिक दृढ भावना को अकित करती है, उसे अधिक शक्ति एव स्फूर्ति देती है, हमारे भावो तथा भावनाओ को अधिक प्रभावित करती है या एक शब्द मे कहे कि वह उस आधार तथा अनुच्छेद निर्भरता को उत्पन्न करती है जो हमारी मति एव विश्वास के यथार्थ स्वरूप का घटक है।

कारणगत सम्भाव्यता और दिष्ट प्राय समकोटि के ही है। कुछ

कारण ऐसे होते हैं जो सदा कार्य विशेप की उत्पादन विधि मे एक रूप और निरन्तर रहते हैं और अद्यावधि उनकी क्रिया मे एक भी उदाहरण विफलता अथवा अनियमितता का उपलब्ध नही होता। अग्नि ने सदा ही दाहकता का निदर्शन दिया और जल ने हमेशा प्राणिमात्र को निमज्जन का ही। चेतना एव आकर्पण के द्वारा गति की उत्पत्ति का नियम एक सामान्य व्याप्ति है जिसने आज तक किसी अपवाद को अवसर नही दिया। परन्तु कुछ ऐसे भी कारण होते हैं जो कुछ अनियत एव अनिश्चित पाये जाते हैं—जमालगोटा सदा रेचक नही होता और न अफीम ही सबसे सदा निद्राजनक ही होती है। यह ठीक है कि जब भी कोई कारण अपने निजी परिणाम को पैदा करने मे विफल पाया जाता है तो दार्शनिक लोग इस विफलता का कारण प्रकृति की अनियमितता नही मानते वरन् यही मानते है कि कुछ अन्तर्हित कारण है कि जिसने किसी स्थान पर मूल कारण ने व्यापार का प्रतिरोध किया है। घटना सम्बन्धी हमारे तर्क तथा निगमन मे मानो इस सिद्धात को कही स्थान ही नही हो। अभ्यासवश अतीत से भावी पर जाने की सर्वविधि अनुमान की प्रक्रिया निश्चित होने के कारण जहा-जहा अतीत ने एकरूपता एव नियमितता प्रदर्शित की है, हम उस अतीत के आधार पर भविष्यत् की सम्भावना अधिक विश्वस्तता से करते हैं और तद्विपरीत मान्यता के लिये कोई अवकाश नही देते। परन्तु जहा आपातत सदृश कारणो से विभिन्न कार्यों का प्रजनन हम पाते है तब अतीत से भविष्यत की कल्पना करते समय उन सब ही विभिन्न परिणामो को हमारे मन मे उपस्थित करना चाहिए और सब का विचार यथोचित किये जाने पर ही किसी घटना या परिणाम विशेप की सम्भाव्यता हम निश्चित कर सकते हैं। यद्यपि हम अधिकतर प्राधान्य उसे ही देते है जो परिणाम अधिकतर किसी कारण विशेप से निकला हो और हम उसी की पुनरावृति की सम्भावना भी करते हो, पर हमे अन्य परिणामो की कल्पना को भी उपेक्षित नही करना चाहिये वरन् हमे प्रत्येक परिणाम को अपनी अपनी आवृत्ति की सख्या के आधार पर अनुपातश महत्व तथा प्रामाण्य देना चाहिए।

यूरोप के प्राय प्रत्येक प्रदेश मे यह अधिक सम्भव है कि जनवरी मे

हिम वर्षा हो अपेक्षाकृत इसके कि सम्पूर्ण मास खुला रहे। किन्तु यह सम्भावना केवल विभिन्न वायुमडल पर निर्भर है और दूरतम उत्तरस्थ राज्यो मे तो निश्चितप्राय ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जब हम किसी कारणजन्य कार्यनिर्वारण हेतु अतीत से भविष्यत् की ओर प्रस्तुत होते हैं तो हम त्रिविध घटनाओ की गणना उसी अनुपात मे करते हैं जिसमे वे पूर्व मे हुई हो—उदाहरणार्थ एक सौ वार हुई तो दूसरी दस वार और तीसरी एक वार। चू कि अधिकाश अनुभव किसी एक घटना का हुआ है तो वह अनुभव हमारी भावी विपयक कल्पना को दृढ वनाकर उस भावना को जन्म देती हैं जिसे हम विश्वास कहते हैं और वह अपने पात्र को तद्विरोधी उस घटना की अपेक्षा प्राधान्य देती है तो उतनी ही सख्या के अनुभव से प्रमाणित न होकर अनुभव मे उतनी वार आवृत नही हुई कि उसके पक्ष मे अतीत ज्ञान को भविष्यत् सम्वन्धी अनुमान का विपय वना लें। अद्यावधि स्वीकृत दर्शन की किसी भी परम्परा के आधार पर प्रकृत मनोव्यापार का मूल हेतु कोई वताने की चेष्टा करे तो उसे तत्काल कठिनाई का अनुभव होने लगेगा। मै तो इतना ही पर्याप्त समझता हू कि यदि इस परिच्छेद मे प्रस्तुत दिग्दर्शन दार्शनिको के कुतूहल जागृत कर दे और उन्हें इस तथ्य का भान हो जाय कि ऐसे कौतुकाकीर्ण और उदात्त विपय का विवरण करने वाले प्रचलित वाद कितने अपूर्ण एव दोपपूर्ण हैं।

सातवां परिच्छेद

अनिवार्य सम्बन्ध का रूप

४८ नैतिक विज्ञान की अपेक्षा गणितशास्त्र का एक अधिक गुण यह है कि गणित के पदार्थ प्रत्यक्षगोचर होने के कारण सदा स्फुट एव निर्धारित रहते है। फलत उनमे परस्पर सूक्ष्मतम भेद भी तुरन्त दृष्टिगत हो जाता है और तत्सम्बन्धी पदावली सदा ही, विना किसी परिवर्तन एव द्वैधीभाव के उसी आशय को प्रकट करती है। एक अण्डाकृति कभी वर्तुल का बोध नही करती और न कभी उपवृत ही वक्र का। समत्रिभुज और विषम त्रिभुज मे विभेदक लक्षण, गुण अवगुण, उचित अनुचित के लक्षण की अपेक्षा कही अधिक निश्चित हो सकते हैं। ज्यामिति मे यदि किसी पारिभाषिक पद का प्रयोग किया जाय तो मस्तिष्क आप ही सदा उससे लक्षित द्रव्य की परिभाषा की ओर परिणत हो जाता है और यदि परिभाषा का प्रयोग ही न किया गया हो, तो वह वस्तु स्वय ही प्रस्फुरित हो जाती है जिससे उसके स्वरूप का भलिभाति बोध किया जाय। परन्तु अन्त करण के सूक्ष्मभाव अथवा बुद्धि के विविध व्यापार, अथवा भावो के विविध उद्रेक वस्तुत स्पष्ट होने पर भी विचार किये जाने पर मन से खिसक जाते है और न यही सभव है कि हम आधाररूप को प्रत्यक्ष जब चाहें उपस्थित कर दें। अतएव द्विरूपता एव अनिश्चितता ने हमारे तर्को मे शनै शनै स्थान ग्रहण कर लिया और सदृश विषय अभिन्न माने जाने लगे, फलत अपने मौलिक आधार से कही दूर पाकर निगमन पहुँचने लगे। तथापि इतना अवश्य दृढता के साथ कहा जा सकता है कि यदि हम गणित सम्बन्धी शास्त्र को सही-सही देखें तो उनके गुण एव अवगुण लगभग तुल्यरूप ही पाये जायेंगे। और दोनो ही प्रकार के विज्ञान समकोटि के ही उतरेंगे। यदि हमारा मस्तिष्क ज्यामिति के स्फुट एव निश्चित विचारो को सुगमता से ग्रहण करता है, तो उसे अवश्य ही लम्बे

लम्बे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सके। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान बहुत ही सुगम एव नियमित होते हैं और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्यवर्ती सोपान कही कम होते है। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अशो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शशश्रृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढावें तो हमारी प्रगति सन्तोषप्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये है जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते है। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे बाधक दो ही हैं—विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणितशास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो में गतिरोध का कारण है प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन है और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। चू कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कही पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक है। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती है। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते है जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद है जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पर्य निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्व रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे वाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का वोध तो परिभापाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभापाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती है। परन्तु जव हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभाषा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते है तो–प्रश्न यह उठता है–हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते है जिससे वे हमारे वौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्वुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ है। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते है। उनमे अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते है। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे वुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट वनकर [illegible] विमर्श का विषय वन जाय।

[illegible] अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

ल'वे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान बहुत ही सुगम एव नियमित होते हैं और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्यवर्ती सोपान कही कम होते है। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अगो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शशश्रृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेण्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढावें तो हमारी प्रगति सन्तोषप्रद हो जाती है। और यह हमें स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे बाधक दो ही हैं—विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणितशास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो में गतिरोध का कारण है प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन है और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। चू कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कहीं पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक हैं। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते हैं जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद है जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पय निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्ब रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे वाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का वोध तो परिभापाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभापाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती है। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभापा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते हैं तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते है जिससे वे हमारे वौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्‌वुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ है। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते है। उनमे अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते है। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे वुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट बनकर हमारे विमर्श का विपय वन जाय।

५० अत शक्ति अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

लम्वे और अधिक पेचीदे तर्को की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान वहुत ही सुगम एव नियमित होते है और परिमाण एव सख्या से सम्वन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्यवर्ती सोपान कही कम होते है। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अशो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शशश्रृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे वढावें तो हमारी प्रगति सन्तोपप्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिवन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे वाधक दो ही हैं—विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणितशास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्वे-लम्वे तर्को की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्वन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो मे गतिरोध का कारण हैं प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन हैं और जव चाहे तव वौद्धिक सूक्ष्म गवेपणा के लिये उपलव्ध नही हो सकते। चू कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कहीं पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के वाधक हैं। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते ह जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद है जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पर्य निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्व रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे बाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ और मैने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का बोध तो परिभाषाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभाषाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती है। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभाषा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते हैं तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते है जिससे वे हमारे वौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्‌वुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ हैं। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते है। उनमें अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते हैं। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे बुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट बनकर हमारे विमर्श का विषय वन जाय।

५० अत शक्ति अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

लम्बे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान बहुत ही सुगम एव नियमित होते है और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्य-वर्ती सोपान कही कम होते हैं। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अशो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शश-शृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढावें तो हमारी प्रगति सन्तोष-प्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज में स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे बाधक दो ही हैं— विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणित-शास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो मे गतिरोध का कारण है प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन ह और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। चू कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कहीं पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक हैं। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती है। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते हैं जिनमें शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद ह जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पय निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दशनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्ब रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे बाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ, और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का बोध तो परिभाषाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभाषाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती हैं। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभाषा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते हैं तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते है जिससे वे हमारे बौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्‌बुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ हैं। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते ह। उनमे अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते ह। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे बुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट बनकर हमारे विमर्श का विषय बन जाय।

५० अत शक्ति अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

ल'वे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान बहुत ही सुगम एव नियमित होते हैं और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्य-वर्ती सोपान कही कम होते हैं। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अगो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शश-श्रृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढावें तो हमारी प्रगति सन्तोष-प्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे बाधक दो ही हैं— विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणित-शास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो मे गतिरोध का कारण है प्रयोगों एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन ह और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। च् कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कही पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक हैं। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते ह जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद है जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पय निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्ब रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे वाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ, और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का बोध तो परिभापाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभाषाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती है। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभाषा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते हैं तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते हैं जिससे वे हमारे वौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्बुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ हैं। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते है। उनमे अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते हैं। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे बुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट वनकर हमारे विमर्श का विषय वन जाय।

५० अत शक्ति अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

लम्बे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान बहुत ही सुगम एव नियमित होते है और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्य-वर्ती सोपान कही कम होते हैं। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अगो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शश-श्रृ ग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढावें तो हमारी प्रगति सन्तोष-प्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे बाधक दो ही हैं— विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणित-शास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो मे गतिरोध का कारण है प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन है और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। चू कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कही पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक है। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते है जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्वन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद है जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमे हर प्रकार की चर्चा मे करना पडता है। अतएव इस अनुच्छेद मे यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पर्य निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे वह दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९ ऐसा लगता है कि यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे विचार किसी न किसी सस्कार के प्रतिविम्व रूप होते है अथवा यो कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नही कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमे वाह्य या आन्तरिक कारणो के द्वारा कभी न हुआ हो। मै इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही मे कर चुका हूँ, और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कही अधिक यथार्थ एव विशदरूप से दार्शनिक युक्तियो को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का वोध तो परिभापाओ द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभाषाए प्रकृत पदार्थ के अवयवो की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध मे सरल विचारो का उल्लेख मात्र करती हैं। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभापा करने लगते हैं और फिर भी उसमे दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते है तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारो पर प्रकाश डाल सकते है जिससे वे हमारे वौद्धिक आलोक मे सुस्पष्ट एव सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्ही सस्कारो अथवा मौलिक भावो को उद्‌वुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ है। ये सस्कार अधिक तीव्र एव करणग्राह्य होते है। उनमे अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नही। वे स्वय स्वप्रकाश होते है। इस युक्ति से हम सम्भवत एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एव सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे वुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एव इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट वनकर हमारे विमर्श का विषय वन जाय।

५० अत शक्ति अथवा आवश्यक ससर्ग के असली स्वरूप से परि-

ल'वे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उमी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यो तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव मे, गहन एव सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श मे अनुमान वहुत ही सुगम एव नियमित होते है और परिमाण एव सख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानो की अपेक्षा नैतिक दर्शनो मे अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्य-वर्ती सोपान कही कम होते है। वस्तुत नैतिक तर्क धारा मे प्रयुक्त अशो की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवो से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति मे पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शश-शृंग जैसी असम्भव कल्पना नही करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वो को पहिचानने की चेष्टा करे और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे वढावें तो हमारी प्रगति सन्तोष-प्रद हो जाती है। और यह हमे स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज मे स्वय प्रकृति ने कितने प्रतिवन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमे अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अत यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनो मे प्रगति मे वाधक दो ही हैं— विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणित-शास्त्रो मे प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयो तक पहुँचाने मे अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवत हमारे प्रकृति विज्ञानो मे गतिरोध का कारण है प्रयोगो एव वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एव रूप मे अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्राय अवसराधीन है और जव चाहे तव वौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नही हो सकते। चूँ कि अद्यावधि नैतिक दर्शनो ने उतनी प्रगति नही की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानो मे यदि कही पार्थक्य है तो उन्ही कठिनाइयो को लेकर है जो उसकी प्रगति के वाधक है। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एव अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती है। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते हैं जिनमे शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

जानते हैं कि उष्णता सदा ज्वाला की सहचरी है परन्तु उनमे कौन सबन्ध है इसकी कल्पना अथवा ऊह करने का भी हम अवकाश नही पाते। अतएव वस्तु परामर्श से तद्गत शक्ति की कल्पना एकाध निदर्शन के आधार पर सर्वथा असम्भव है, कारण, कोई भी पदार्थ अपनी निजी शक्ति को स्वरूपत प्रकट नही करता जिससे हमारी कल्पना को आधार मिल जाय।[१]

५१ जब यह सिद्ध है कि बाह्य पदार्थ जिस रूप मे हमे प्रत्यक्ष गोचर होता है अपनी शक्ति अथवा अनिवार्य सम्बन्ध का कुछ निदर्शनो द्वारा हमे कुछ भी बोध नही करा सकता तो हमे अब यह देखना चाहिए कि यह ज्ञान अपने अन्त करण पर होने वाली प्रतिक्रिया की ही प्रतिभा है और हमारे आन्तरिक सस्कारो से पुनर्मुद्रित की जा सकती है या नही।

यह कहा जा सकता है कि हम प्रतिक्षण इस आभ्यन्तर शक्ति का परिचय पाते रहते हैं, हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी इच्छा द्वारा प्रेरणा पाकर हमारे दैहिक अवयव काम करने लगते हैं और हमारी मानसिक शक्तिया भी क्रियाशील होने लगती हैं। इच्छात्मक व्यापार मात्र जाति का जनक है और हमारी कल्पना मे नूतन विचार का उद्भावक है। इच्छा की इस प्रेरकशक्ति का अनुभव हम चेतना द्वारा कर पाते है इसी तरह हमे शक्ति अथवा स्फूर्ति का बोध होने लगता है और यह दृढ विश्वास भी होने लगता है कि हम स्वय तथा अन्य प्रबुद्ध जीव शक्ति सम्पन्न हैं। तो फिर यह विचार सच तो मनन का

---

१ श्रीयुत लाक अपने 'शक्ति' नामक अध्याय मे कहते हैं कि अनुभव के बल हम यह जानते हैं कि द्रव्यगत सतत् नवोत्पत्ति होती रहती है और यह तर्क करके कि कोई न कोई शक्ति द्रव्य मे ऐसी होती है जो नवीन वस्तु पैदा करती रहती है, हम इस विचार क्रम से शक्ति के अस्तित्व मे विश्वास कर सकते हैं। परन्तु कोई भी तर्क नयी मौलिक साधारण कल्पना को नहीं जन्म देता और यह बात दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि नवोत्पत्ति का क्रम हमे नवीन विचार प्रदान नहीं कर सकता।

बिम्ब मात्र है, क्योंकि यह हमारे मन की क्रिया पर मनन करने से उद्भूत होता है और इसका अस्तित्व इच्छाशक्ति की प्रेरणा पर अवलम्बित है चाहे वह हमारे शारीरिक अवयवों से अथवा हमारी आत्मिक शक्तियों से सम्बन्ध रखे न रखता हो।

५२ अब हम इस तर्क की सत्यता का परीक्षण करते है। सर्वप्रथम इच्छा का शारीरिक अवयवों पर कितना और कैसा प्रभाव है यह जानने का यत्न हम करेंगे। हम यह देखते है कि यह प्रभाव वास्तविक है जो अन्य किसी भी नैसर्गिक व्यापार की भांति केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है और कार्य से सम्बन्ध स्थापित करा देने वाले किसी भी कारण मे वर्तमान आपातत: दृष्ट किसी भी शक्ति अथवा स्फूर्ति से कल्पित नही किया जा सकता जिससे यह निश्चित किया जा सके कि यह कार्यविशेष निरपवाद रूप मे किसी खास कारण का परिणाम है। गात्रो मे स्पन्द हमारी इच्छा की प्रेरणा से होता है—इस तथ्य का भान हमे प्रतिक्षण होता है, परन्तु 'स्फूर्ति' जिसके द्वारा यह क्रिया होती है और जिसके बल इच्छा भी इतना अद्भुत व्यापार कर पाती है सदा ही हमारे ज्ञान से इतना परे रहती है कि हमारे समस्त सावधान विमर्श से सर्वदा वह बच निकलती है।

क्योंकि

अनेक वार इतर पदार्थ पर अपना प्रभाव रख परिणाम को उत्पन्न करता रहता है।

द्वितीयत —

हम अपने सकल अवयवो पर तुल्य अधिकार नही रखते और हम इसके लिये अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु वता भी नही सकते। क्या हमारी इच्छाशक्ति जितना अधिकार जिह्वा अथवा अगुलियो पर रखती है उतना हृदय एव यकृत पर नही? यह प्रश्न हमे इतना नही उलझा पाता यदि हमे यह विदित हो कि आद्यवर्ग मे कुछ शक्ति निहित है, द्वितीय वर्ग मे नही। तो हमे अनुभव से व्यतिरिक्त भी यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारी इच्छाशक्ति का गात्रो पर अधिकार ऐसी सीमाओ से परिचित है। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर हमे उस क्रियात्मक शक्ति अथवा स्फूर्ति का पूरा परिचय मिल जायेगा और तव ही हमे इसका वोध भी हो जायेगा कि इच्छा का प्रभाव निश्चित रूप से उन विशिष्ट सीमाओ तक ही पहुँच सकता है और आगे नही।

कोई भी व्यक्ति सहसा हाथ या पैर मे पक्षाघात हो जाने पर या इन अवयवो के नष्ट हो जाने पर वार-वार पहिले तो उन्हे उठाने का प्रयास करता है और चाहता है कि वे अपना-अपना व्यापार करे। इस समय वह अपने गात्रो पर अपने अधिकार को उतना ही मानता है जितना कि एक स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वस्थ गात्रो पर रखता है। परन्तु चेतना तो कभी भी प्रवचना नही करती। फलत न पहली और न दूसरी दशा मे हमे तद्गत शक्ति का भान रहता है। हम हमारी इच्छाशक्ति की समर्थता को केवल अनुभव से ही जान पाते है। अनुभव ही हमे यह सिखाता है कि किस तरह एक घटना दूसरी घटना की सदा पश्चाद्-भाविनी है, परन्तु वह साथ ही साथ हमे यह नही वताता कि उनमे ऐसा कौन सा गुह्य सम्वन्ध है जो उन्हें परस्पर सम्वद्ध कर एक दूसरे से अविच्छेद्य वना देता है।

तृतीयत —

हम शरीर शास्त्र के द्वारा यह जानते हैं कि ऐच्छिक गति की जननी शक्ति का साक्षात विषय वह अवयव नही जो गतिमान होता है परन्तु

विम्ब मात्र है, क्योकि यह हमारे मन की क्रिया पर मनन करने से उद्‌भूत होता है अ.र इमका अस्तित्व इच्छाशक्ति की प्रेरणा पर अवलम्बित है चाहे वह हमारे शारीरिक अवयवो मे अथवा हमारी आत्मिक शक्तियो से सम्बन्ध क्या न रखता हो।

५२ अव हम इस तर्क की सत्यता का परीक्षण करते हैं। सर्वप्रथम इच्छा का शारीरिक अवयवो पर कितना और कैसा प्रभाव है यह जानने का यत्न हम करेंगे। हम यह देखते है कि यह प्रभाव वास्तविक है जो अन्य किसी भी नैसर्गिक व्यापार की भाति केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है और कार्य से सम्बन्ध स्थापित करा देने वाले किसी भी कारण मे वर्तमान आयासत दृष्ट किसी भी शक्ति अथवा स्फूर्ति से कल्पित नही किया जा सकता जिससे यह निश्चित किया जा सके कि यह कार्यविशेप निरपवाद रूप मे किसी खास कारण का परिणाम है। गात्रो मे स्पन्द हमारी इच्छा की प्रेरणा से होता है—इस तथ्य का भान हमे प्रतिक्षण होता है, परन्तु 'स्फूर्ति' जिसके द्वारा यह क्रिया होती है और जिसके वल इच्छा भी इतना अद्‌भुत व्यापार कर पाती है सदा ही हमारे ज्ञान मे इतना परे रहती है कि हमारे समस्त सावधान विमर्श से सर्वदा वह वच निकलती है।

क्योकि

प्रथमत इस अखण्ड प्राकृतिक विश्व मे इससे भी क्या अधिक कोई राज गुह्य हो सकता ह कि शरीर का शरीर से सम्वन्ध हो और जिससे तथाकथित आत्मिक पदार्थ भौतिक पदार्थ पर इतना प्रभाव पा सके कि सर्वश्रेष्ठ परिमार्जित विचार केवल स्थूल पदार्थ को क्रियाशील कर सके? यदि हम किसी भी रहस्यमय इच्छा के वल पर्वतो को उखाड सकें अथवा ज्योति पर परिवर्तनम न नक्षत्रमण्डल को नियन्त्रित कर सकें तो यह विशाल शक्ति कोई अधिक अलौकिक न होगी और न हमारे लिये वोधातीत ही। परन्तु किसी भी चेतनावश यदि हम इच्छा के अन्तगत किसी शक्ति अथवा स्फूर्ति को देख पाते तो हमे ऐसी शक्ति का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, हमे कार्यकारण सम्बन्ध का वोध होना चाहिए और उभय पदार्थ का स्वरूप भी अवगत होना चाहिए और जिसके वल एक पदार्थ

अनेक वार इतर पदार्थ पर अपना प्रभाव रख परिणाम को उत्पन्न करता रहता है।

द्वितीयत —

हम अपने सकल अवयवो पर तुल्य अधिकार नही रखते और हम इसके लिये अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु बता भी नही सकते। क्या हमारी इच्छाशक्ति जितना अधिकार जिह्वा अथवा अगुलियो पर रखती है उतना हृदय एव यकृत पर नही? यह प्रश्न हमे इतना नही उलझा पाता यदि हमे यह विदित हो कि आश्रवर्ग मे कुछ शक्ति निहित है, द्वितीय वर्ग मे नही। तो हमे अनुभव से व्यतिरिक्त भी यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारी इच्छाशक्ति का गात्रो पर अधिकार ऐसी सीमाओ से परिचित हैं। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर हमे उस क्रियात्मक शक्ति अथवा स्फूर्ति का पूरा परिचय मिल जायेगा और तब ही हमे इसका बोध भी हो जायेगा कि इच्छा का प्रभाव निश्चित रूप से उन विशिष्ट सीमाओ तक ही पहुँच सकता है और आगे नही।

कोई भी व्यक्ति सहसा हाथ या पैर मे पक्षाघात हो जाने पर या इन अवयवो के नष्ट हो जाने पर बार-बार पहिले तो उन्हे उठाने का प्रयास करता है और चाहता है कि वे अपना-अपना व्यापार करें। इस समय वह अपने गात्रो पर अपने अधिकार को उतना ही मानता है जितना कि एक स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वस्थ गात्रो पर रखता है। परन्तु चेतना तो कभी भी प्रवचना नही करती। फलत न पहली और न दूसरी दशा मे हमे तद्गत शक्ति का भान रहता है। हम हमारी इच्छाशक्ति की समर्थता को केवल अनुभव से ही जान पाते हैं। अनुभव ही हमे यह सिखाता है कि किस तरह एक घटना दूसरी घटना की सदा पश्चाद्-भाविनी है, परन्तु वह साथ ही साथ हमे यह नही बताता कि उनमे ऐसा कौन सा गुह्य सम्बन्ध है जो उन्हे परस्पर सम्बद्ध कर एक दूसरे से अविच्छेद्य बना देता है।

तृतीयत —

हम शरीर शास्त्र के द्वारा यह जानते हैं कि ऐच्छिक गति की जननी शक्ति का साक्षात विषय वह अवयव नही जो गतिमान होता है परन्तु

विशिष्ट स्नायु यन्त्र तथा व्रण हैं और इसके पीछे भी और भी सूक्ष्म अविज्ञात तत्व हैं जिनके द्वारा गति क्रमश प्रेरित होकर ही उस अवयव को क्रियाशील बनाती है जिसका व्यापार उस समय व्यक्ति को साक्षात अभिप्रेत है। क्या इससे भी अधिक कोई ध्रुव प्रमाण हो सकता है जब सकल क्रियाशीलता का आधार एव आतरिक भावना अथवा चेतना से साक्षात् एव पूर्ण रूप परे रहने वाली यह शक्ति अन्तिम हद तक सर्वथा गुह्य एव अज्ञात ही बनी रहती है ? देखिये मन किसी क्रिया का होना चाहता है और तुरन्त ही एक ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है जिसे हम जान पाते और जो अभिप्रेत से नितान्त भिन्न है। परिणाम दूसरे परिणाम को पैदा करता है और वह भी उतना ही अविदित होता है—और आखिरकार एक दीर्घ क्रम के अनुसरण के पश्चात् अभिप्रेत परिणाम प्रादुर्भूत होता है। तथापि यदि मूलशक्ति का अनुभव हो सकता तो उसका ज्ञान भी हो सकता है, और यदि उसका ज्ञान हो जाय तो उसके परिणाम का भी बोध अवश्य होगा, कारण—सकल शक्ति अपने-अपने व्यापार से समवेत ही तो सदा रहती है। और इसी तरह व्यतिरेक व्याप्ति भी सिद्ध है—यदि परिणाम अज्ञात है तो उसकी आधारभूत प्रेरक शक्ति का न ज्ञान ही हो सकता है और न भावना का ही। वास्तव मे हमे अपने गात्रो को सञ्चालित करने की शक्ति की चेतना कैसे हो सकती है जब हमारे पास ऐसी कोई शक्ति ही न हो। हम तो केवल इतना ही जान पाते है कि हम किसी प्राणमय चेतनता मे स्पन्द उत्पन्न कर सकते हैं जो अन्तत हमारे गात्रा मे गति पैदा करने पर भी इस प्रकार व्यवहार करता है कि उसका स्वरूप हमारे लिए तो सदा अगम्य ही रह जाता है।

उपर्युक्त समस्त तर्क के आधार पर मैं आशा करता हू कि किसी प्रकार समीक्षाकरण न करते हुए हम अपनी चेतनात्मक गति को उत्तेजित कर अपने गात्रों को अपने-अपने व्यापार मे सन्नद्ध करते है तो हमारी निजी शक्ति सम्बन्धी चेतना का प्रतिरूप नही होता। गति हमारी इच्छा से प्रेरणा पाते ही कार्यान्वित हो जाती है—यह बात तो साधारण

अनुभव से सिद्ध है जैसे और भी कोई नैसर्गिक पदार्थ अनुभव सिद्ध मिलते हैं। परन्तु दूसरे नैसर्गिक पदार्थों मे वर्तमान निहित शक्ति जितनी हमारे बोध से बाह्य रहती है उतनी ही अगम्य वह शक्ति अथवा स्फूर्ति भी है जो हमारे द्वारा प्रेरित गति को जन्म देती है।[1]

---

१ मनु। यह कहा जा सकता है कि शक्ति अथवा सामर्थ्य की कल्पना कराने वाला तो एक प्रकार का प्रतिरोध अथवा प्रतिक्रिया है जो हमे सकल पदार्थ मे दीख पडती है और जिसका मुकाबिला करने के लिए अनेक बार समूची ताकत लगा देनी पडती है और हमारी सारी कूवत जमाकर सामने डटना पडता है। वास्तव मे हमारा यह उग्र प्रयत्न, जिसका हमे सदा भान होता रहता है, वह मौलिक सस्कार है जिसकी प्रतिमूर्ति है वस्तुगत शक्ति-विषयक धारणा। इस पूर्वपक्ष के प्रतिवाद मे यह कहा जा सकता है। हम सर्वप्रथम तो असख्य पदार्थों मे शक्ति है ऐसा मानकर चलते हैं जहाँ हम ऐसे प्रतिरोध अथवा प्रतिक्रियात्मक सामर्थ्य के उपयोग की सत्ता को कम नहीं मान सकते जैसे हम शक्ति बि दु परमात्मा मे मानते हैं जिसके विरुद्ध कोई भी प्रतिक्रिया नहीं की जा सकती फिर हम ऐसा भी मानते हैं कि वह शक्ति मन की है जो हमारे विचारो तथा अवयवो पर अधिकार रखती है। और भी आगे हम उस शक्ति का कारण सामान्य विचारधारा तथा गति मे ढूढते हैं जब कि किसी भीप्रयास अथवा सामर्थ्य के उपयोग के बिना ही इच्छामात्र से क्रिया होती है और अन्तत हम शक्ति का सम्बन्ध अचेतन से भी स्थापित करते हैं जो कभी भी भाव का विषय हो नहीं सकता। और दूसरी बात यह है कि किसी भी प्रकार के प्रतिरोध पर विजय पाने के प्रयुक्त प्रयास की भावना का किसी भी घटना के साथ प्रकट सम्बन्ध नहीं पाया जाता, कारण, जो परिणाम होता है वह तो अनुभव से जाना जाता है और हम उसका पूर्वज्ञान नहीं कर सकते। प्रतिरोध की भावना शक्ति की कल्पना का मौलिक आधार नहीं हो सकता—हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता हैं कि यद्यपि चेतनगत प्रतिरोध (जो हमारे अनुभव का विषय है) हमे शक्ति की ठीक-ठीक कल्पना नहीं करा

५३ क्या अव हम यह दृढता पूर्वक कह सकने है कि हमे अपने मन मे शक्ति अथवा स्फूर्ति का मान तव ही हो सकता है जव हमारी इच्छा द्वारा आदेश पाते ही कोई नयी कल्पना उत्पन्न हो जाती है और हमारी मनोवृत्ति तदाकार वन जाती है जिसे हम समूची तरह देख लेते ह और अन्त मे किसी अन्य कल्पना को स्थान देने के हेतु पूर्वकल्पना को हटा देते है और मान लेते है कि हमने उसे पूरी तरह समझ लिया है और ठीक-ठीक भी ? मुझे विश्वास है कि ये ही तर्क इस वात को भी प्रमाणित कर देंगे कि यह हमारी इच्छाकृत प्रेरणा की शक्ति हमे शक्ति अथवा स्फूर्ति की वास्तविक कल्पना देने मे असमर्थ ही रहती है ।

कारण—

प्रथम—यह मान लेना चाहिए कि जव हम किसी भी शक्ति का अनुभव करते है तो हम उस अवस्था को तत् कारण मे भी देखते है जिससे वह क्षम होती है क्योकि ये दोनो ही एकाभाववोधक गिने जाते है । अत हमे कार्य एव कारण दोनो को ही जानना चाहिए और साथ ही साथ उनके परस्पर सम्वन्ध को भी । तथापि क्या हम कभी यह भी जान पाते है कि मानव आत्मा का और मनोगत विचार का क्या स्वरूप है और क्या एक मे दूसरे को प्रादुर्भूत करने की शक्ति भी है । यह वास्तविक सर्ग है—असत् से सत् की उत्पत्ति—इसका तात्पर्य है कि सृजनात्मक शक्ति इतनी वडी है जो प्रथम अलोक मे किसी भी प्राणी के ज्ञान के परे है जो परब्रह्म से निम्नकोटि का हो । अन्तत यह स्वीकार करना ही होगा कि यह शक्ति न तो प्रत्यक्षगोचर है, न ज्ञान का विषय है और न मनोगम्य ही । हमे केवल परिणाममात्र की भावना भी होती है—एक विचारात्मक सत्ता का भान होता है जो हमारी इच्छा का विधेयमात्र है—परन्तु वह प्रकार जिसमे यह सकल सृजन होता है, वह शक्ति जिसमे विश्व की उत्पत्ति होती है सर्वथा हमारे ज्ञानपथ से वाह्य एव अतीत है ।

द्वितीय—मन का अपने आप पर भी अधिकार वडा ही मर्यादित

सकता तथापि वह कुछ धुंधली सी, अप्रमाणित सी भावना हमे जरूर दे सकता है जिससे वह प्रतिरोध प्रकट करता है ।

रहता और उसी तरह शरीर पर भी। और यह मर्यादा भी बुद्धिगम्य नही होती और न कार्य-कारण के स्वरूप के ज्ञान से ही वह जानी जा सकती है। वह तो केवल अनुभव एव सतत् निरीक्षण द्वारा उसी तरह समझी जा सकती है जिस तरह अन्य नैसर्गिक घटनाओ तथा उनकी बाह्य पदार्थों पर प्रतिक्रिया का रूप जाना जाता है। हमारे भावो तथा अवेशो पर हमारा अधिकार मनोविचारो की अपेक्षा कहा बहुत है और मनोविचारो पर भी वह अधिकार अत्यन्त सीमित है। तो कभी कोई इन सीमाओ का निर्देश करने का दम्भ कर सकता है और यह भी बताने का क्यो? वह शक्ति एक स्थान पर क्षीर्ण होती है और अन्य स्थान नही?

तृतीय—यह आत्माधिकार विभिन्न अवसरो पर विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। एक स्वस्थ पुरुष किसी रुग्ण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकारवान दीख पडता है, हम अपने विचारो पर सायकाल की अपेक्षा पूर्वाह्न मे अधिक अधिकार पाते हैं, और उपवास के समय भरे पेट की अपेक्षा और भी अधिक। क्या हम अनुभव को छोड और कोई कारण इन परिवर्तनो का दे भी सकते हैं? तो फिर अब वह शक्ति कहा रही जिससे परिचित होने का हम दम्भ करते रहते है? चाहे आध्यात्मिक अथवा भौतिक क्यो न हो--सर्वत्र क्या कोई गुप्त रहस्यमयी यन्त्रणा अथवा वस्तुत्वश की योजना नही है जिस पर परिणाम की सत्ता निर्भर है और जो स्वय अविदित रहने के कारण इच्छा की शक्ति अथवा स्फूर्ति को भी सर्वथा अविज्ञात एव अबोध बनाये रखती है?

इच्छा निश्चय ही एक मनोव्यापार है जिससे हम भलीभाति परिचित हैं। उस पर मनन करो, उसका पर्यवेक्षण करो। क्या तुम्हे वहा कुछ सृजनात्मक शक्ति जैसी लगती है जो नवीन विचार को जन्म देती है। और एक प्रकार के सृजति भाव को पैदाकर कर्त्ता की सर्वशक्तिमत्ता का अनुकरण करती है जिसने (यदि मैं ऐसा कह सकू तो) प्रकृति के इन समस्त दृश्यो को अस्तित्व प्रदान किया? और जब हम इच्छागत स्फूर्ति से इतने अनभिज्ञ रहते हैं तो हमे इतना सुनिश्चित अनुभव होना चाहिए जिसके आधार पर हम यह विश्वास कर लें कि मानव मनोवाछा जैसी

सीधी-सीधी क्रिया द्वारा इतने अलौकिक परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

५४ जनसामान्य को भारी वस्तु का नीचे गिरना, पेड पौधो का उगना, प्राणियो का पैदा होना अथवा भोजन द्वारा पोपण होना जैसी प्रकृति की साधारण एव नित्य परिचित क्रियाओ का मूल क्या है—यह वता देने मे कभी कोई कठिनाई नही होती परन्तु इसी के साथ यह भी मान लो कि प्रत्येक वस्तु के विपय मे वे इस शक्ति अथवा स्फूर्ति का भी अन्वेपण कर पाते है जो कार्य की जननी हैं और अपने व्यापार मे सर्वदा अक्षुण्ण है—तो यह कहना होगा कि वे दीर्घ अभ्यासवश एक ऐसी मानसिक शक्ति को पा जाते है। जिसके वल पर कारण को देखते ही वे तुरन्त ही विश्वासपूर्वक उसके सहचर परिणाम की भी कल्पना कर लेते हैं और यह कभी नही सोचते कि कोई भिन्न कार्य उस इष्ट कारण से भी कभी उत्पन्न हो सकता है। भूकम्प, महामारी जैसी अघटित घटनाओ द्वारा उत्पादित स्थिति मे ही वे असाधारण कार्य के अन्वेपण मे उन्हे कारण निर्देश करने मे, और किस तरह वह अद्भुत परिणाम हुआ यह वतलाने मे भी उन्हें कुछ कठिनाई अवश्य होती है। ऐसी विशिष्ट समस्याओ के विपय मे मानव स्वभावत किसी अदृष्ट चेतन शक्ति का आधार ग्रहण करता है जिसे वे अद्भुत परिणाम का हेतु मानते ह और जिसे वे ऐसा समझते हैं कि प्रकृति की सामान्य शक्ति उन घटनाओ के लिए उत्तरदायी नही है। परन्तु दार्शनिक वर्ग सदा अपनी दृष्टि को और आगे ले जाने के आदी हैं और तुरन्त ही यह समझ लेते हैं कि साधारण नित्य परिचित वस्तुओ के मूल कारण उतने ही दुर्वोध हैं जितने कि असाधारण वस्तुओ के। साथ ही वे यह भी जान जाते हैं कि हम सदा ही वस्तुओ के वारम्वार होने वाले साहचर्य सम्वन्ध को केवल अनुभव से ही समझ सकते हैं परन्तु उनके वीच सम्भावित सम्वन्ध को अवगत करने मे कभी भी सफल नही हो पाते।

५५ इस सम्वन्ध मे वहुत से दार्शनिक वुद्धि के आग्रह से सर्वत्र उसी सिद्धान्त को मान वैठते है जिसे सामान्य जनता किसी अद्भुत अथवा अतिलौकिक या अप्राकृत घटना के सामने आने पर ही अवलम्वित करते है। वे मन एव वुद्धि को समस्त वस्तु का अन्तिम

अथवा मौलिक कारण ही न केवल मानते वरन् प्राकृतिक घटना के साक्षात् एव एकमात्र कारण समझते हैं। उनकी धारणा है कि वे पदार्थ जिन्हे साधारणत हेतु कहा जाता है वास्तव मे प्रासगिक अवसर मात्र है, और किसी भी परिणाम का वास्तविक एव साक्षात् मूलहेतु कोई भी प्रकृति गत शक्ति अथवा स्फुर्ति नही है, मूलहेतु तो परमब्रह्म परमात्मा की अव्यवहृत इच्छा मात्र है जो पदार्थो को परस्पर नित्य घटित करती रहती है। ऐसा ईश्वरवादी दार्शनिक यह नही मानते कि बिलियर्ड की एक गेंद को जो गति प्राप्त न करती है निसर्ग के मूलाधार किसी शक्ति के कारण है, परन्तु वे तो यही कहेगे कि वह स्वय परमेष्ठी का ही व्यापार है जो अपनी इच्छा विशेष के कारण दूसरी गेंद को गतिमान कर देती है, और उसकी वैसी इच्छा प्रथम गेंद के स्पन्दन द्वारा प्रदुर्भूत की जाती है जो उन कतिपय सामान्य नियमो का परिणाम है जिन्हे उसने स्वय जगत् के शासनार्थ निर्मित किये हैं। परन्तु सतत् खोज मे लगे हुए दार्शनिक यह पाते हैं कि जिस सीमा तक हम विभिन्न पदार्थो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की आधारभूत शक्ति से अनभिज्ञ हैं, उतनी सीमा तक हम उस शक्ति के स्वरूप से भी अपरिचित हैं, जो मन का शरीर पर, अथवा शरीर का मन हर अधिकार रखने का मूलाधार है और उतने ही अविदित हम अपनी इन्द्रियो एव चेतना के होने हुए भी उस मौलिक तत्व से भी हैं जो एक स्थिति मे अन्य स्थिति की अपेक्षा अधिक व्यापक एव बलवती होती है। यही हमारा अज्ञान हमे हर अवस्था मे एक ही निर्णय पर पहुँचा देता है। ईश्वरवादियो का मन्तव्य है कि ईश्वर ही शरीर एव शरीर के सयोग का उपादान कारण है, और ज्ञानेन्द्रियो का यह धर्म नही है कि वे बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्प पाकर मन में स्पन्दन पैदा करें, परन्तु यह तो सर्वशक्तिमान परमेष्ठी की इच्छा विशेष है जो इन्द्रियगत व्यापार के फलस्वरूप हमारे अन्त करण मे उस प्रकार की चेतनता को जागृत कर देती है। उसी तरह, हमारी इच्छा पर अधीन वह स्फूर्ति विशेष नही जो हमारे अवयवो मे स्थानीय स्पन्द को उत्पन्न करती है, परन्तु यह तो ईश्वर ही स्वय है जो हमारी इच्छा का अनुमोदन करता है। जो

वास्तव मे विना ईश्वरेच्छा का सर्वथा क्लीव एव मोघ होनी है। और उस गति को जागृत करता है जिसे हम भूल से अपनी शक्ति एव योग्यता समझते रहते है। दार्शनिक वर्ग तो इन निगमनो पर पहुँचकर भी विश्राम नही लेता। वे अपने इस तर्क की सीमा को मनोव्यापार तक आगे वढाते हैं और यह मानते है कि हमारा मानसिक आलाक अथवा विचारजन्य धारणाएँ भी जगत्पिता परमेश्वर कृत आविर्भाव के अतिरिक्त और कुछ नही है। हम जब स्वेच्छा से किसी वस्तु की ओर ध्यान देते है और उसकी मानसिक प्रतिमा की भावना करने लगते है तव भी वे ऐसा मानते हैं कि हमारी इच्छा उस प्रतिमा की जननी नही है, परन्तु वहा भी जगन्निर्माता परमेश्वर का ही हाथ है जो उस प्रतिमा को हमारे मन मे प्रादुर्भूत कर उसे हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

५६ इस तरह इन दार्शनिको के मत मे हर वस्तु ईश्वरमय है और वे इतने से भी सन्तुष्ट नही होते कि ईश्वरेच्छा के विना कुछ भी नही होता और उसकी अनुमति के विना किसी मे कुछ भी करने की सत्ता नही है। वे तो प्रकृति का तथा अन्य वस्तुओ को मकल शक्ति से वचित कर यह सिद्धात स्थिर करना चाहते हैं कि दैवी शक्ति के ही अधीन सव कुछ है वह सर्वथा सर्वत्र स्फुट एव साक्षात् है। वैज्ञानिक भी इस वात को नही सोचते कि ऐसी धारणा वनाकर वे उन तत्वो की महत्ता को वास्तव मे घटाते जिन्हे वे इतनी आदरणीय वनाने के लिए सचेष्ट है। वे स्वय अपनी स्वतत्र इच्छा से सकल वस्तु को घटित करने की स्वाभाविक ईश्वरीय शक्ति की अपेक्षा ईश्वर की उस शक्ति को अधिक महत्ता दे देते हैं जिसके द्वारा वह हीन कोटि के जीवो को कर्त्तृत्वशक्ति प्रदान कर देता है। ऐसा मानना कही अधिक प्रज्ञापूर्ण होता यदि वे इस विशाल ससार पर के प्रत्येक ततु को सिद्ध, दूरदर्शिता के द्वारा ऐसा मान स्वीकार कर लेते कि वह आप ही आप दिष्ट द्वारा सम्पाद्यमान सकल कार्य कर लेता और ईश्वर पर यह वोझ न लादते कि वह प्रतिक्षण जगत् के विशाल यत्र के प्रत्येक अवयव को स्वय सुसम्बद्ध करता रहे और उसके हर चाक को सदा अपने श्वासोच्छवास से अनुप्राणित करता रहे।

यदि हमे उपर्युक्त सि ान्त का और अधिक दार्शनिक रीति से खडन करना हो तो एतदर्थ केवल दो ही निम्नलिखित विचार प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा।

५७ १ सर्वप्रथम तो मुझे ऐसा लगता है कि परब्रह्म परमात्मा की विभुता और सर्वकारिता का यह सिद्धात एक इतनी घृष्ट कल्पना है जो मानव विश्वास के साथ स्वीकृत नही की जा सकती चाहे कितनी ही अपनी बुद्धि की स्वल्पता का मान उसे क्यो न हो और उसकी क्षमता की सकीर्ण परिधि का भी उसे बोध क्यो न हो और उक्त सिद्धात पर पहुचने वाली तर्क की परम्परा चाहे कितनी ही विशुद्ध क्यो न हो उसे इस बात मे दृढ विश्वास न भी हो तो भी एक निश्चित सन्देह अवश्य पैदा कर सकता है कि उक्त तर्क ने हमे सवथा अपनी शक्ति से विकल बना ऐसे निगमन पर पहुचा दिया जो हमारे सवसाधारण जीवन एव अनुभव से इतना अधिक दूर है। अपने सिद्धान्त के अन्तिम सोपान तक पहुचते-पहुचते तो हम गन्धर्वपुरी मे ही प्रवेश कर जाते हैं। और वहा पहुचकर हमे हमारी तर्क की सामान्य पद्धतियो पर अवलम्बन करने का कोई कारण ही नही रह जाता और न यह सोचने का ही अवकाश रहता कि सादृश्य तथा सम्भाव्यता के सिद्धान्तो मे भी कहा प्रामाण्य होता है। हमारा पद क्रम इतना सकीर्ण हो जाता है कि इतनी गम्भीर खाई को वह पार कर ही नही सकता। साथ ही साथ हमे प्रत्येक पदक्रम मे सादृश्य एव अनुभव द्वारा ही पथ-प्रदर्शन होता है। हमे यह विश्वास कर लेना चाहिए कि ऐसा कल्पित अ ुभव वहा प्रमाण नही हो सकता जहा उसका प्रयोग हम अनुभवातीत क्षेत्र मे करने लगते है। इस विषय पर और विशद विचार हम आगे चलकर करेंगे।

२ दूसरी बात यह है कि उक्त सिद्धान्त या वाद के आधार भूत तर्कों मे मुझे कोई बल नही दीखता। सच है कि हम इस रहस्य से अन-भिज्ञ है कि पदार्थों मे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार होती रहती है—पदार्थगत शक्ति अथवा सवथा बोधातीत है—परन्तु क्या हम उतने ही अपरिचित उस विधि या शक्ति से नही है जिसके द्वारा मन और सर्वाधिकारी मन भी अपने व्यापार मे प्रवृत्त होता है और अन्य विषयो

पर भी अपना प्रभाव डालता है[1] मैं विनम्र निवेदन करता हू कि यह तो वताइये कि उक्त विषय पर किसी प्रकार वोध होता है। हमे स्वगत इस शक्ति की न भावना है और न चेतना। और हमे परमेष्ठी के सबध मे भी कोई वोध नही सिवाय इसके कि हम अपनी शक्तियो पर मनन कर उसकी कुछ कल्पना कर लेते है। और यदि हमारा किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अज्ञान हो तो हमे उसकी सत्ता को अस्वीकृत करना उतना ही आवश्यक होगा जितना किसी भी स्थूलतम द्रव्य के सम्बन्ध मे। कारण, निश्चय, हम एक की क्रियाविधि से है। प्रेरणा मे गतिविधि की उत्पत्ति को मानना इच्छा मात्र से उत्पत्ति मानने की अपेक्षा कहा कठिन है। यदि हमे किसी प्रकार प्रस्तुत विषय मे ज्ञान है तो वह इतना ही है कि हमारा अज्ञान तिमिर उतना ही प्रगाढ एव निविड है।[2]

---

१ परिच्छेद-१२।

२ यह आवश्यक नहीं कि मैं यहां तमस्तत्व का सविस्तार विचार करूँ जिसके सम्बन्ध मे कि तत्वदर्शन मे इतनी अधिक चर्चा चल पडी और जिसका सम्बन्ध प्रकृति से वताया जाता है। हमे अनुभव से यह ज्ञात है कि कोई भी निश्चल या गतिमान पदार्थ अपनी विद्यमान स्थिति मे वना रहता है जव तक कोई विशेष कारण उसका प्रतिवन्धक न हो और साथ ही साथ यह भी विदित है कि प्रयोज्य पदार्थ मे उतनी ही गति उत्पन्न होती है जितनी स्वय प्रयोजक पदार्थ मे होती है। यह वस्तु स्थिति है और जव हम तमस्तत्व अथवा जडता इसे कहते हैं तो हम तामसी प्रकृति के वारे मे कुछ नहीं समझते। हम केवल इस वस्तु स्थिति का नामग्रहण करते हैं और उसी तरह जव हम उसके सही स्वरूप को न समझते हुए सिर्फ कुछ परिणाम विशेष की ओर ही सकेत करते हैं। सर आयजक न्यूटन का उद्देश्य शक्ति अथवा स्फूर्ति के गौण कारणो को अपार्थ करने का कभी भी न रहा, गो उनके कतिपय अनुयायियो ने उनके नाम पर उक्त वाद को स्थिर करने की चेष्टा अवश्य की है। इसके विपरीत उस महान् दार्शनिक ने सर्वव्यापी आकर्षण का मूल कहीं व्योमगत क्रियाशील, तरल द्रव्य के अस्तित्व मे

दूसरा भाग

५८ उक्त तक से निगमन पर पहुचने की त्वरा मे हमने व्यर्थ ही शक्नि की कल्पना अथवा आवश्यक सम्बन्धी स्थापना करने का प्रयत्न किया। केवल यही स्पष्ट हुआ कि पदार्थो की क्रियात्मकता के एक दो निदर्शनो द्वारा हम कितनी ही छानबीन क्यो न कर लें केवल इतना ही समझ सकते है कि एक घटना दूसरी किसी घटना की अनुगामिनी है और यह तब भी नही जान पाते कि कारण से काय की जननी कौन-सी शक्ति है अथवा उनमे परस्पर कौन-सा सम्बन्ध है। और वही कठिनाई तब भी उपस्थित होती है जब हम मन और शरीर की क्रियाओ के विषय मे चिन्तन करने लगते है जहा हम यह पाते है कि एक की इच्छानुसार दूसरा काम करने लगता है यहा भी हम न तो उस बन्धन को देख ही पाते न उसके स्वरूप की कल्पना ही कर पाते जो क्रिया एव इच्छा अथवा उत्तेजिनी स्फूर्ति को परस्पर बाँधे रखता है। और न तनिक-सा भी बोध हमे अपनी शक्नियो अथवा विचारो पर प्रभुत्व को रखने वाली इच्छाशक्ति का ही हो पाता है। अतएव सामान्यत यही कहा

समझा है जो भी सतर्कता एव विनय के नाते उन्होंने उसे केवल सिद्धान्त ही माना है और अधिक प्रायोगिक अन्वीक्षण की सापेक्षता प्रकट की है। मुझे यह अवश्य स्वीकार कर लेना है कि अवश्य ही इन विविध वादों के भविष्य मे, कुछ न कुछ असाधारणता है। डीकार्टी ने परमेश्वर की विभुता और एकमात्र शक्ति के सिद्धान्त को प्रस्तुत अवश्य किया है परन्तु उस पर आग्रह कभी नहीं किया। मेलिब्रेंकी तथा डीकार्टी के अनुयायियो ने तो इसे अपनी दार्शनिक आधारशिला ही बनाया। परन्तु उसे इग्लैंड से कभी मान्यता प्राप्त नहीं हुई। लाक, क्लार्क एव कुडवर्थ ने तो उक्त वाद को दृष्टिपात भी नहीं किया और सदा यही मानते रहे कि प्रकृति या द्रव्य मे वास्तविक शक्ति है जो भी वह अन्तत सिद्ध एव अधीन है। किन कारणों से आखिर यह वाद हमारे आधुनिक आध्यात्मवादियों मे इतना प्रचलित हो पडा ?

जा सकता है कि प्रकृति की रचना मे एक भी ऐसा सम्बन्धविषयक निदर्शन नही जिसे हम भलीभाति समझ सकें। एक घटना दूसरी घटना की पश्चाद्भाविनी हैं, परन्तु उनके इस योग के मुख्य तत्व को नही देख पाते। वे परस्पर सयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु सम्बद्ध नही। और चू कि हम कदापि ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान नही कर सकते जो हमारे अन्तर अथवा वाह्य कार्यो का गोचर नहीं हो। हम यही निश्चय कर पाते हैं कि शक्ति सम्बन्ध के विषय मे हमे कोई भावना नहीं और ये वह प्राय निरर्थक ही गिने जाने चाहिए जब कभी उनका किसी दार्शनिक तर्क अथवा साधारण जीवन के सन्दर्भ मे प्रयोग किया जाय।

५९ परन्तु अब भी पूर्वोक्त निगमन से दूर रहने का एक उपाय है अभी एक मार्ग खुला है जिसका परीक्षण हमने अब तक नही किया है। जब कभी कोई नैसर्गिक वस्तु या घटना हमारे समक्ष उपस्थित होती है तो कैसी भी सूक्ष्म दृष्टि अथवा निपुणता द्वारा पूर्वानुभूति के विना यह जान लेना अथवा कल्पना भी कर लेना नितान्त असम्भव होता है कि कौन-सी घटना किससे उत्पन्न होगी और हमारी पूर्वदर्शिता की स्मृतियो को साक्षात इन्द्रिय सम्पर्क से दूरवर्ती पदार्थ तक पहुचाना भी अत्यन्त असम्भव होता है। और एक घटना का दूसरी घटना के साथ पौर्वापर्य एक-दो वार देखने पर भी किसी सामान्य नियम को बनाने का हमे अधिकार प्राप्त नही होता, न हम यही कह सकते हैं कि सर्वत्र वही घटना वैसी ही घटना के पश्चात् सदा होती रहेगी। चाहे कितना ही प्रामाणिक एव सुनिश्चित परीक्षण अथवा प्रयोग क्यो न हो परन्तु विना पौन पुन्य के एक ही वार इष्ट उदाहरण का केवल सामान्य निगमन कर लेना तो वास्तव मे एक अक्षम्य अविम्मयकारिता होगी। परन्तु जब एक प्रकार की घटनाए अनेकश एक-सी घटनाओ की पश्चाद-भाविनी देख ली गयी है तो हमे एक के होते ही दूसरी की सम्भावना निश्चित करने मे अथवा वस्तुस्थिति को प्रमाणित करने वाले तर्क का उपयोग करने मे तनिक भी सकोच नही होता। तत्पश्चात् हम उनमे से एक को निमित कहते है और दूसरे को परिणाम। हम यह भी मानने लगते हैं कि उनके मध्य एक प्रकार का सम्बन्ध है—एक मे कोई ऐसी

शक्ति है जो अनिवाय रूप से दूसरी को पैदा करती है तथा वह सुदृढ निश्चितता तथा बलिष्ठ अपेक्षा के कारण काय पर होती रहती है।

तब तो ऐसा लगता है कि घटनागत अनिवार्य सम्बन्ध का बोध हमे अनेक निदर्शनो के निरीक्षण से कदापि नही हो सकता चाहे वह निरीक्षण कितना भी समूचा सब पहलुओ से क्यो न किया गया हो? तथापि यह स्पष्ट है कि अनेक निदर्शनो मे एक दूसरे से कोई विभेद नही होता जैसा एक होता है ठीक उसी तरह दूसरा भी—केवल अन्तर इतना ही होता है कि बारम्बार उसी तरह के निदर्शन को देख हमारा मन अभ्यासवश एक घटना को होते देख दूसरी तत्सहयोगिनी घटना को अवश्यम्भाविनी मानकर उसकी भी भविष्यतत्सत्ता को साथ ही साथ मानने तैयार हो जाता है। अतएव यही मानना उचित है कि मनसा अनुकूल यह सम्बन्ध अथवा इष्ट पदार्थ से सर्वदा तत्सहयोगी पदार्थान्तर की और अभ्यासवश कल्पनामय परिवृत्ति ही नैसर्गिक ससर्ग अथवा पदार्थगत सहज शक्ति की बोधिका है। इस विषय मे इससे अधिक और कुछ नही कहा जा सकता। पदार्थ का सर्वदिक निरीक्षण करो मगर इसके अतिरिक्त आपको कुछ भी जान न पडेगा। यह तात्विक अन्तर है कि निदशन के दर्शन मे और अनेक निदर्शनो के परीक्षण में जो शक्ति की कल्पना का उद्‌गम है। उदाहरणार्थ—विलियर्ड की दो गेंदो के सघर्ष को लीजिये—प्रथमबार जब मानव ने प्रेरणा के द्वारा गति प्राप्ति का एक निदर्शन देखा तो वह घटना की जननी है कि यह निर्णय कभी न कर सका केवल वह इतना समझ सका ये दो एक दूसरे से किसी तरह सम्बद्ध अवश्य है। परन्तु जब उसने ऐसे अनेक निदर्शन देखे तो उनमे कार्यकारण भाव है ऐसा उसकी समझ मे आया। तो यह प्रश्न यहाँ उठता है कि ऐसा कौन सा मनोगत परिवर्तन हुआ है जिसने पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना को जन्म दिया? और कुछ नही सिवाय इसके कि वह अपनी कल्पना में इन दो घटनाओ को आपस मे सम्बद्ध समझने लगा और तुरन्त ही एक के अस्तित्व को देख दूसरे अवश्यम्भावी सत्ता मे विश्वास करके लगा। और जब हम यह कहते ह कि एक विषय दूसरे से सम्बद्ध है हमारा इस कथन से इतना ही तात्पर्य

है कि इन दो विपयो ने हमारे मनोव्यापार मे एक ससर्गरूप धारण कर लिया है जिसके आधार हम एक ऐसा अनुमान करते लगते है जो दूसरी घटना के अस्तित्व का एक सिद्ध प्रमाण माना जाता है। यद्यपि यह निर्णय कुछ अद्‌भुत सा अवश्य लगता है परन्तु यह है अवश्य ही पर्याप्त प्रमाण का वल लिये हुए। और यह प्रमाण ऐसा नही है जो वोध सामान्य के विपय मे वर्तमान अविश्वास अथवा किसी भी नव-धारणा के सम्वन्ध मे प्राय विद्यमान आशका के द्वारा सहज ही विचलित्त कर दिया जाय। कारण, मानव तर्क एव वुद्धि वैभव के सम्वन्ध मे निर्वलता अथवा सीमितता को लेकर किये हुए अन्वेपण विपयक सशकता से अधिक अन्य कोई निगमन शकावह नही होता।

६० प्रस्तुत विपय से अधिक अच्छी और कौन-सा उदाहरण इस वात का हो सकता है कि वोध की निर्वलता तथा विस्मयकारी अज्ञान मानव का कितना है? कारण, पदार्थगत यदि कोई ऐसा सम्वन्ध जिसको समूची तरह जान लेना हमारे लिए महत्व का है तो वह है कार्य कारण भाव। इसी पर वस्तु सत्ता सम्वन्धी हमारे समस्त तर्क आधारित हैं। और इसी के वल हम स्मृति अथवा प्रत्यक्ष से अतीत विपयो के सम्वन्ध मे कुछ भी दृढतापूर्वक कह सकते है। सकल विज्ञान की साक्षात् उपयोगिता तो इसी कारण है कि वह हमे भावी घटनाओ को उनके कारणो के द्वारा ही नियन्त्रित करना अथवा नियमित करना सिखाता है। अतएव हमारे सकल विचार एव विमर्श प्रतिक्षण इसी ससर्ग के सम्वन्ध मे व्याप्त रखते हैं।

केवल इतना ही सामान्य रूप से कह सकते हैं कि सदृश्य पदार्थ उनसे सुसदृश पदार्थों के साथ सदा सयुक्त रहते है। इस सम्वन्ध मे हमारा अनुभव प्रमाण है। इसी अनुभूति के अनुसार हम कारण की परिभापा इन शब्दो मे दे सकते हैं—कारण वह पदार्थ है जो कि सदा पूर्णवर्ती है और पूर्ववर्ती के सुसदृश अन्य सब पदार्थ दूसरे पदार्थ के सुसदृश अन्य पदार्थों के सदा पूर्ववर्ती रहेगे। या दूसरे शब्दो मे यो कहा जाय कि पूर्ववर्ती पदार्थ के न होने पर परवर्ती पदार्थ कभी सत्ताशाली न हो पायेगा। अभ्यस्त परिणाम के कारण, हेतु का प्रत्यक्ष हमे सदा

ही हेतुमान के सम्बन्ध अनुमान करा दे सकता है। इसका भी हमे पूरा-पूरा अनुभव है। तो फिर हम इस अनुभूति पर केवल एक और परिभाषा कारणकी बना सकते हैं और कह सकते है कि कारण वह है जिसका अनुगामी काय होता है और जिसका प्रत्यक्ष काय के अनुमान का जनक होता है। यद्यपि इन दोनो परिभाषाओ मे कारण से व्यतिरिक्त अन्य अश का आधार लेना पडता है, परन्तु इस त्रुटि को हम दूर नही कर सकते, न इससे अधिक अच्छा लक्षण ही उसका बना सकते जो कार्यपरक सम्बन्ध का बोध कारणगत करा सके। जब हम कारण के स्वरूप के सम्बन्ध धारणा बनाने को उद्यत होते हैं तो हमे ससर्ग का बोध नही हो पाता इतना ही नही वरन् हमे अपने ज्ञातव्य के विषय मे जरा-सी भी कल्पना नही हो पाती। उदाहरणार्थ—हम यह कहते हैं कि तार की यह हलचल किसी एक ध्वनिविशेष का कारण है—परन्तु क्या हम इस उक्ति का अर्थ सही-सही समझ पाते हैं, इस कथन से या तो हम यह समझते है कि तार की इस हलचल से इस तरह की ध्वनि पैदा होती है। और ऐसी हलचलो के पश्चात् सदा ऐसी ही ध्वनि उत्पन्न होती रहेगी अथवा यह जानते हैं कि तन्त्री का यह स्पन्द इस ध्वनि विशेष का पूर्वगामी है और उसके प्रत्यक्ष होते ही हमारी मनोवृत्ति इन्द्रियो की ग्राहकता का पूर्वग्रह तुरन्त ही अनुगामी विषय की मानसिक कल्पना कर लेता है। यो हम कार्य कारण सम्बन्ध पर विमर्श इन दो पहलुओ से कर सकते है जिसके अतिरिक्त तद्विषयक हमारी और कोई कल्पना बन नही सकती।[१]

---

१ परिभाषा एव निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति की धारणा उतनी ही क्लिष्ट है जितनी कि कारण की। क्योकि दोनो सदा ही अपने ससर्गी परिणाम अथवा सहयोगी प्रतिफल की भावना को सदा लिये ही उपस्थित होते हैं। जब हम किसी भी पदार्थगत अदृष्ट वस्तु पर विचार करने लगते हैं जिसके द्वारा परिणाम की मात्रा या अश का निर्धारण एव निर्णय किया जाता है तो हम उसे शक्ति कहते

मुझे यह भय है कि यदि उक्त वाद को समझने के लिए मैं अधिक शब्दो का प्रयोग करू अथवा विविध आलोक से उसी विषय को प्रस्तुत करने की चेष्टा करू तो सम्भवत प्रतिपाद्य विषय कही अधिक गम्भीर और कठिन न हो जाय। सूक्ष्म तर्कों के सम्वन्व मे सदा एक ही दृष्टि-विन्दु हुआ करता है जिसे ठीक-ठीक समझने पर हम विपय को स्पष्ट करने के प्रयास मे अधिक सफल हो सकते हैं। और उसी दृष्टि विन्दु पर

हैं तदनुसार समस्त दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि परिणाम ही शक्ति का परिमापक है। परन्तु यदि तुम्हें शक्ति की कल्पना स्वत॰ सिद्ध होती तो वे स्वतत्र रूप से ही शक्ति का माप क्यो नहीं निकाल लेते। एक पदार्थ की गतिविपयक [शक्ति उसके वेग मे अथवा वेग के प्रमाणनुरूप होती है यह वाद मे कहता हूँ अथवा विषमवार परिणामो की तुलना कर निश्चित नहीं किया जाना चाहिए परन्तु साक्षात् माप तौल और तुलना का ही किया जाना उचित है।

इसी तरह शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति आदि शब्दो का वहुधा प्रयोग *साधारण बोलचाल में एव दार्शनिक विमर्श मे होता रहना है,* तथापि यह कोई इसका प्रमाण नहीं कि हम किसी भी विषय मे कार्यकारण भाव के मध्य स्थित ससर्ग से परिचित हैं अथवा एक से दूसरे की उत्पत्ति क्यो कर होती इसका हेतु वता सकते हैं। सर्वत्र प्रयुक्त इन पदो का प्रयोग काफी असावधानी से किया जाता है और उनका तात्पर्य वहुत ही अनिश्चत एव अनेकान्तिक रूप से किया जाता है। कोई भी चेतन पदार्थ व्यापार की भावना के विना अपने स्थूल शरीर को गतिमान नहीं कर सकता और प्रत्येक सचेतन को गतिमान किसी वाह्यद्रव्य के द्वारा प्रयुक्त आघात का अनुभव होता है तो ये अनुभव जो प्राणिमात्र मे सामान्यरूप से होता रहता है किसी भी अनुमान को जन्म नहीं दे सकते हम पहिले उसे किसी जड द्रव्य से सम्वद्ध कर गति का प्रतिवर्तन होता है ऐसा मानते हैं।

पहुँचने की हमे चेष्टा करनी चाहिए, साहित्यिक लच्छे तो उन्ही विषयो के लिए सुरक्षित रखने चाहिए जो उस वैभव के अधिक अनुकूल बैठते है।

इस परिच्छेद मे प्रस्तुत तर्क का साराश यह है

प्रत्येक विचार किसी पूर्वानुभूत सस्कार या भावना की प्रतिमा मात्र है और यदि हम किसी सस्कार को नही पाते तो यह निश्चित है कि वहा कोई विचार भी नही हो सकता। किसी भी द्रव्य अथवा मन के किसी भी व्यापार का एकाकी निदर्शन किसी भी सस्कार को उत्पन्न नही कर सकता और फलत वह किसी नैसर्गिक ससर्ग अथवा शक्ति की भावना को भी उद्भावित नही कर सकता। परन्तु जब अनेक एक से निदर्शन दीख पडते हैं और जब सदा एक ही घटना किसी घटना की पश्चादभाविनी होती दीखती है तो हमे कार्यकारण भाव की कल्पना होने लगती है। तब हमे किसी नये सस्कार या नयी भावना का अनुभव होने लगता है और वह सस्कार, उदाहरणार्थ, एक पदार्थ का उसके सहज सहयोगी के मध्य विद्यमान हमारे विचार या कल्पना मे अवस्थित सामान्य ससर्ग के रूप मे होता है और यही भावना हमारे आलोच्य विचार का मूल एव आधार है। और चू कि यह भावना एक नही वरन् अनेक निदर्शनो के आधार पर बनती है यह अवश्य ही ऐसी स्थिति मे उत्पन्न होती है जहा निदर्शनो की समष्टि व्यष्टि से भिन्न रहती है। और यह समष्टिगत भेद इसी अश मे रहता है कि वह सहज ससर्ग को बोध कराकर हमारी कल्पनाशक्ति का दृष्ट के बल अदृष्ट की अनुमिति करा सकता है जो व्यष्टि नही कर सकती। शेष अश मे दोनो ही तुल्य होती है। यदि हम हमारे उसी स्फुट उदाहरण का उल्लेख करें तो यह स्मरण होगा कि बिलियर्ड की दो गेदो का परस्पर सघर्ष गतिदायक होता है। प्रयोग मे आने वाली स्फूर्तियो को किसी भी गति को प्रेरणा देने की भावना से सम्बद्ध न करते हुए हम केवल सवकालीन पदार्थगत ससर्ग की अनुभूति पर ही विचार करते ह और जिस तरह विविध विचारो मे बारम्बार पृष्ठ ससर्ग के अनुभव से हम उसे एक मे दूसरे पर स्थानान्तरित कर देते है उसी प्रकार बाह्य पदार्थो का आन्तरिक प्रेरणा से जो जन्यजनक भाव है उसमे भी पूर्वोक्त सम्बन्ध से भिन्न कोई वस्तु नही है।

मुझे यह भय है कि यदि उक्त वाद को समझने के लिए मैं अधिक शब्दो का प्रयोग करू अथवा विविध आलोक से उसी विषय को प्रस्तुत करने की चेष्टा करू तो सम्भवत प्रतिपाद्य विषय कही अधिक गम्भीर और कठिन न हो जाय। सूक्ष्म तर्कों के सम्बन्ध मे सदा एक ही दृष्टि-बिन्दु हुआ करता है जिसे ठीक-ठीक समझने पर हम विषय को स्पष्ट करने के प्रयास मे अधिक सफल हो सकते है। और उसी दृष्टि बिन्दु पर

हैं तदनुसार समस्त दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि परिणाम ही शक्ति का परिमापक है। परन्तु यदि तुम्हें शक्ति की कल्पना स्वत सिद्ध होती तो वे स्वतन्त्र रूप से ही शक्ति का माप क्यो नहीं निकाल लेते। एक पदार्थ की गतिविषयक [शक्ति उसके वेग मे अथवा वेग के प्रमाणनुरूप होती है यह बाद मे कहता हूँ अथवा विषमवार परिणामो की तुलना कर निश्चित नहीं किया जाना चाहिए परन्तु साक्षात् माप तौल और तुलना का ही किया जाना उचित है।

इसी तरह शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति आदि शब्दो का बहुधा प्रयोग साधारण बोलचाल में एव दार्शनिक विमर्श मे होता रहता है, तथापि यह कोई इसका प्रमाण नहीं कि हम किसी भी विषय मे कार्यकारण भाव के मध्य स्थित ससर्ग से परिचित हैं अथवा एक से दूसरे की उत्पत्ति क्यो कर होती इसका हेतु बता सकते हैं। सर्वत्र प्रयुक्त इन पदो का प्रयोग काफी असावधानी से किया जाता है और उनका तात्पर्य बहुत ही अनिश्चत एवं अनेकान्तिक रूप से किया जाता है। कोई भी चेतन पदार्थ व्यापार की भावना के बिना अपने स्थूल शरीर को गतिमान नहीं कर सकता और प्रत्येक सचेतन को गतिमान किसी बाह्यद्रव्य के द्वारा प्रयुक्त आघात का अनुभव होता है तो ये अनुभव जो प्राणिमात्र मे सामान्यरूप से होता रहता है किसी भी अनुमान को जन्म नहीं दे सकते हम पहिले उसे किसी जड द्रव्य से सम्बद्ध कर गति का प्रतिवर्तन होता है ऐसा मानते हैं।

आठवां परिच्छेद

स्वातन्त्र्य एव अपेक्षा

यह तो प्रत्याशित अवश्य ही है कि विज्ञान तथा दर्शन के प्रादुर्भाव के साथ-साथ उपस्थित तथा परम उत्सुकता से बहुधा विवाद के विषय प्रश्नो के सम्बन्ध मे कम से कम सामान्यत व्यवहृत पदावली का वाच्यार्थ तो वादी-प्रतिवादी के बीच निश्चित रूप से स्थिर हो जाय और लगभग दो हजार वर्ष के दौरान मे प्रस्तुत हमारे विमर्श अब तो शाब्दिक परिधि से आगे बढकर विवाद के वास्तविक विषय पर केन्द्रित हो जाय। कारण, कितना सरल यह प्रतीत होता होगा कि तर्क के विषय से सम्बन्ध रखने वाले पदो की सही-सही परिभाषा दी जाय और उनकी व्याख्या ऐसी की जाय जो केवल शब्द-ध्वनि ही न हो परन्तु भविष्य मे की जाने वाली छान-बीन तथा सूक्ष्म परीक्षा का विषय भी बन सके? परन्तु यदि हम इसे सूक्ष्म-दृष्टि से देखें तो सम्भवत बिलकुल ही विपरीत निर्णय पर पहुचेंगे। केवल इसी बात से कि इस सम्बन्ध मे इतने सुदीर्घ काल मे मतभेद प्रचलित है और सर्वमान्य कोई भी निर्णय नही हो पाया, हम यह मान ही सकते हैं कि कही पद से पदार्थ के बोध होने मे अभी भी सशयात्मकता विद्यमान है तथा वाद प्रस्तुत करने वाले तार्किको मे प्रचलित पदावली मे विभिन्न अर्थ ग्रहण करने की प्रथा आज भी देखी जाती है। कारण, हर व्यक्ति मे बौद्धिक शक्ति निसर्गत समान ही मानी जाती है, अन्यथा वाद या तर्क मे उतरना नितान्त व्यर्थ सिद्ध होगा। साथ ही साथ यह भी असम्भाव्य है कि यदि वादग्रस्त विषय की पदावली मे मतभेद न रखते हुए भी तार्किक लोग एक ही विषय पर विभिन्न मत को रखते रहे, विशेषकर उस अवस्था मे जब कि वे अपने-अपने मत को प्रकट करते हैं तो हर पक्ष सर्वत घूम-फिर कर ऐसे तर्क का अन्वेषण करता रहता है कि जिसके बल से वह अपने प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करा सके। हाँ, यह

स्रोतो से परिचित हो लें। युद्ध, कूट प्रयोग, दलवन्दी तथा क्रान्ति के ये इतिहास विविध प्रयोगो के सग्रह मात्र है जिनके आधार पर राजनीतिज्ञ तथा आचारज्ञ अपने-अपने विज्ञान के मूलसिद्धान्त स्थिर करते है। ठीक उसी तरह जैसे कोई वैद्य तथा प्रकृति विज्ञाता अपने-अपने प्रयोगात्मक अनुभवो के वल पर पेड, पोहर, खनिज द्रव्यो अथवा अन्य भौतिक पदार्थो से परिचित होते हैं। जिस तरह आजकल हम देखते है कि ठीक उसी तरह अरस्तू और हिप्पोक्रेटीज ने पृथ्वी, जल आदि तत्व देखे थे और मानव तव भी वैसे ही थे जव पोलिवस तथा टेसीरस ने वर्णन किया था और जैसे आज के जननायको को वे दीख पडते हैं।

यदि कोई यात्री दूर विदेश से लौट कर हमे वहाँ की ऐसी जनता का वर्णन वताये जहाँ के मानव हमारे परिचित अन्य मानवो से अत्यन्त भिन्न हो, जिनमे न लोभ, न प्रतिकार अथवा न महत्वकाक्षा की भावना हो, जिन्हे मित्रता, उदारता तथा सर्वोदय के अतिरिक्त कही अन्यत्र सुख की कल्पना ही न हो तो हम तुरन्त ऐसे वयान से उसकी अमत्यता को पहिचान लेंगे और उसे एकदम झूठा समझकर यही निर्णय करेंगे कि वह हमे भूत-प्रेत, वैताल आदि की कहानी कह रहा है। और हम इतिहास का मिथ्यात्व भी प्रकट करना चाहेंगे और इस वर्णन से हमे किसी अन्य निर्देशन की अपेक्षा अन्य किसी उदाहरण यह प्रमाणित करने को न होगा कि ऐसे गुणो का अस्तित्व कही भी मानव प्रकृति के विरुद्ध है और मानव किसी भी उद्देश्य से प्रेरित हो इस प्रकार का आचरण नही कर सकता। क्विन्टियस करटियस की प्रामाणिकता मे भी हमे उतना ही सन्देह होता है जव वह सिकन्दर का अतिमानव साहस वर्णन करता है जिसके वल वह अकेला सहस्त्रों का सामना करता अथवा सहस्त्रो के आक्रमण को अकेला ही रोक लेता था। कारण यह है कि हम सहज ही सर्वत्र मानव की शारीरिक क्षमता अथवा उद्देश्यो की समानता स्वीकृत करने को उद्यत होते हैं।

६६. यही लाभ हमें दीर्घ जीवन तथा विभिन्न व्यवसाय एव सहवास द्वारा प्राप्त होता है जिमसे हम मानव प्रकृति के मूलतत्वो का अध्ययन कर पाते है और हमारी विचारधारा तथा भावी व्यवहार को नियमित

करते है। इस निर्देशन के द्वारा हम मानव की अभिरुचि एव प्रवृत्तियो का ज्ञान कर पाते हैं और उसके कृत्यो, अनुभवो तथा इगितो से हम उसकी चेष्टाओ का तात्पर्य ग्रहण करते हैं जिसका मूल आधार हमारी स्वय की रुचि एव प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। सुदीर्घकाल से प्राप्त हमारी अनुभव परम्परा से उपलब्ध सर्वसाधारण पर्यवेक्षण ही हमे मानव प्रकृति का सकेत प्रदान करता है और उसकी गुत्थियो को सुलझाने मे सहायक होता है। ऊपरी दिखावे और बहाने हमे धोखा नही दे सकते। जन सामान्य की घोषणाए किसी भी लक्ष्य का स्वरूप विशेष हैं—यह हमे प्रतीत हो जाता है। यद्यपि सद्‌गुण एव सम्मान अपने-अपने स्थान पर अपना महत्व एव अधिकार अवश्य क्यो न रखते हो तथापि ऊपर दिखाये जाने वाला एकान्त विराग अधिकाश जनसमूह मे अथवा दलो मे पाया नही जाता, विशेषकर उनके नेताओ तथा किसी भी स्तर के व्यक्तियो मे और भी कम। यदि यह कहा जाय कि मानव की चेष्टाओ मे एकरूपता न हो और हमारा प्रत्येक पर्यवेक्षण अथवा प्रयोग अनियमित तथा विधि विरुद्ध है तो चूकि समस्त मानव जाति का सवसामान्य निरीक्षण असम्भाव्य है हमारा कोई भी अनुभव चाहे कितने ही सूक्ष्म विचार एव विवेचन पर आधारित क्यो न हो सही निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा। यदि यह पूछा जाय कि एक वृद्ध किसान क्यो कर कृषि कर्म मे नवयुवक की अपेक्षा अधिक चतुर होता है तो यही मानना होगा कि सूर्य, वरुण एव पृथ्वी की गति-विधि का परिणाम शस्योत्पति पर सदा एकरूप होता है और अनुभव ने वृद्ध व्यवसायी को इन नैसर्गिक नियमो से अधिक परिचित बना दिया है।

तथापि हमे मानवीय चेष्टाओ की एकरूपता के नियम को सार्वत्रिक नही मान लेना चाहिए, हमे यह नही समझना चाहिए कि सत् पुरुष समान स्थितियो मे ठीक-ठीक एक-सी ही चेष्टा करते रहेगे। कारण व्यक्तिगत चरित्र, पूर्व ग्रहो तथा अभिरुचियो की विभिन्नता के लिये भी अनुरूप अवकाश देना चाहिए। प्रत्येक अश मे पूर्ण एकरूपता तो हमे प्रकृति के किसी भी भाग में उपलब्ध नही होती। प्रत्युत् विभिन्न व्यक्तियो की चेष्टाओ मे बहुरूपता को देखते हमे पृथक्-पृथक् नियमो का

भाव उत्पन्न करना पडता है, जो किसी मात्रा मे अवश्य नियमितता तथा स्वरूपता को धारण किये रहते है।

क्या कहीं विभिन्न वय के, विभिन्न युग के अथवा विभिन्न देश के मानवो का रहन-सहन एकरूप होता है ? । नहीं । इस निरीक्षण से हम यह जान पाते है कि रूढियो की तथा शिक्षा की कितनी शक्ति है जो मानव मस्तिष्क को शैशव से ही प्रभावित कर एक स्थिर सुसम्पन्न चरित्र के रूप मे गठित कर देती है। क्या भिन्न लिंग के मानवो का चरित एव व्यवहार अन्य से पृथक रूप रहता है ? क्या हम उस आधार पर विभिन्न प्रकृतियो से परिचित हो सकते है जिन्हे निसर्ग ने विभिन्न लिग के मानवो को अकित किया है और जो सदा, सर्वत्र स्थिर रूप मे प्रकट होता रहता है ? क्या एक ही व्यक्ति की चेष्टाए जीवन के विभिन्न भागो मे—शैशव से वार्वक्य तक—पृथक रूप होती है ? । यदि ऐसा होता है तो हम इन पृथकताओ को देख अपने रुचिभेद तथा भावनाओ के परिवर्तनो के सामान्य निरीक्षण को मानव प्राणियो मे विभिन्न वयोवस्था मे प्रवर्तमान मानव-प्रकृति के सम्वन्व मे पृथक्-पृथक् सिद्धात वना सकते हैं। चरित्रगत वे विशेपताए, जो प्रत्येक व्यक्ति की निजी होती हैं अपने प्रभाव मे सदा एकरूपता प्रकट करती है, यदि ऐसा न हो तो हमारा किसी भी व्यक्ति से कितना ही निकट परिचय क्यो न हो, और हमे उसके चरित्र के निरीक्षण करने के कितने ही अवसर क्यो न प्राप्त हुए हो, हम उसकी प्रकृति के सम्वन्व मे कदापि अपना अभिप्राय निर्वारित न कर सकेंगे और उसके साथ हमारी व्यवहारनीति भी निश्चित न कर सकेंगे।

यह मैं मानता हूँ कि कतिपय मानव चेप्टाए ऐसी हो सकती हैं जिनका विदित उद्देश्यो से कोई सिद्ध सम्वन्व न हो और जो मानव प्रकृति के परिगृहीत नियमो के अनुरूप व्यवहार के अपवाद रूप हो, परन्तु यदि हम जान लें कि इन अनियमित तथा असावारण चेप्टाओ का स्वरूप निर्णय कैसे करना चाहिए तो प्रकृति के प्रवाह मे अनियमित घटनाओ और वाह्य वस्तु की क्रिया-प्रतिक्रियाओ के सम्वन्व मे हमारी भावनाओ का भी हमे विचार कर लेना चाहिए। क्योकि सब कारण अपने कार्य के साथ

सर्वदा सदृश एकरूपता को लिये नही होते। एक कर्मकार जो निर्जीव पदार्थ पर काम करता है अपने लक्ष्य के साधन मे कही निराश हो सकता है जैसे एक कूटनीतिज्ञ सचेतन एव प्रज्ञाशील अपने दूतो को क्रिया निर्देशन करते हुए अपने ध्येय मे असफल हो सकता है।

६७ एक अबोध व्यक्ति हर वस्तु के उसके वाह्य स्वरूप को लेकर घटनाओ (परिणामो) की अनिश्चितता को सदा कारणो की अनिश्चितता मान लेता है मानो किसी व्यवधान के न होते हुए भी कारण का अनेक सामान्य कार्य पर कोई प्रभाव ही न रहा हो। परन्तु दार्शनिक तो निसर्ग के प्रत्येक अग मे विभिन्न स्त्रोतो तथा सिद्धान्तो को देखता है जो अपनी सूक्ष्मता तथा दूरस्थता के कारण तिरोहित से रहते है और वह इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि कारण से विरूप कार्य की उत्पत्ति कारणगत दोष के कारण नही होती वरन् विरोधी कारणो की सत्ता के कारण है। और यह उसका निर्णय अधिकाधिक निरीक्षण द्वारा दृढ वन जाता है और सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात दार्शनिक कह उठता है कि कार्यगत विरूपता कारणगत अननुरूपता को प्रकट करती है और पारस्परिक विरोध से उद्भूत होती है। एक हालिक अपनी घडी या घण्टा के वन्द हो जाने का "यह ठीक नही चलती" इसके सिवा दूसरा कारण नही वता सकता, परन्तु एक घडीसाज आसानी से यह समझता है कि बालकमानी अथवा लोलक का सदा घटीचक्र पर एक-सा ही असर होता है तथापि घडी के वन्द हो जाने का कारण सभवत कोई रज कण हो जिसकी स्थिति ने यन्त्र मे गतिरोध उत्पन्न कर दिया है। सुसदृश अथवा समानान्तर अनेक निदर्शनो के निरीक्षण से दार्शनिक इस सिद्धात को दृढ कर लेता है कि कार्य और कारण मे सम्बन्ध विशेष ध्रुव है और क्वचित् आपातत दृश्यमान विरूपता कही विरोधी अथवा वाधक हेतु द्वारा विहित अविज्ञात प्रतिरोध का फल है।

उदाहरणार्थ—मानव शरीर मे जब कही स्वास्थ्य अथवा रोग के लक्षण प्रत्याशित स्वरूप ग्रहण करते है, जब औषधियाँ अपना प्रभाव नही करती अथवा जब कोई भी हेतु निसर्गविरुद्ध परिणाम प्रकट करता है तो वैद्य और दार्शनिक चकित नही होते और मानव-शरीर सम्बन्धी

सामान्य सिद्धान्तों की सत्यता तथा एकरूपता का प्रतिक्षेप करने के लिए वे उद्यत नही होते । वे समझते हैं कि मानवशरीर अत्यन्त सूक्ष्म एव विनष्ट यन्त्र है और उसमे अनेक गुप्त शक्तियाँ अपना-अपना काम करती रहती है जिनका बोध हमे महज नही होता उस यन्त्र की गति कई बार हमे अनियमित-सी लगती है। अतएव घटनाओ की विरूपता अपने बाहरी स्वरूप मात्र से यह कदापि प्रमाणित नही करती कि प्राकृतिक नियम आभ्यन्तर क्रिया तथा यन्त्रचालन मे नियत रूप से मक्रिय नही रहते ।

६८ उसी तरह एक तर्कशील दार्शनिक सचेतन प्राणियो की चेष्टाओ तथा इच्छाओ के सम्बन्ध मे वही तर्क प्रस्तुत करता है। मानवो के आशातीत मानसिक निश्चय का कारण वे ही प्रकट कर सकते हैं जो परिस्थिति तथा व्यक्तिगत स्वभाव से भलीभाँति परिचित हो । एक परोपकारी उदार व्यक्ति किमी समय प्रतीप प्रत्युत्तर दे बैठता है— सम्भवत वह क्षुधार्त हो अथवा दन्तरोग से पीडित । एक जड व्यक्ति उसके व्यवहार मे असाधारण उग्रता का अनुभव करे, परन्तु उसे महसा सौभाग्य की प्राप्ति हुई है। कभी-कभी तो किमी घटना का कारण बताया ही नही जा सकता, न उसे कर्ता ही जान पाता और न उसके सहवासी । हम जानते है कि सामान्यत मनुष्य का स्वभाव कुछ अश तक परिवर्तनशील एव बहुरूप होता है। मनुष्य के स्वभाव की यही तो सर्व-सामान्य विशेषता है—यद्यपि यह चचलता विशेष रूप से उस व्यक्ति मे दीख पडती है जिसके व्यवहार की पद्धति अनियमित है तथापि थोडी या अधिक मात्रा मे अस्थिरता एव मनमानापन तो हर मानव के स्वभाव मे रहता ही है। आभ्यन्तर उद्देश्य एव निसर्ग के नियम तथापि एकरूपता से काम करते है चाहे ऊपर-ऊपर कितनी अनियमितता क्यो न दीखती हो—ठीक उसी तरह जैसे वायु, मेघ पर्जन्य तथा ऋतु के विविध परिणाम किसी स्थिर सिद्धान्त से अनुशासित होते हैं जो भी उनका सूक्ष्म कारण मानव-प्रज्ञा तथा गवेषणा मे महसा आकलित न हो पाये।

६९ उपर्युक्त सन्दर्भ मे यह प्रतीत होता है कि न केवल मानव की स्वेच्छा प्रेरित चेष्टाएँ तथा उद्देश्यो का परस्पर सम्बन्ध निसर्ग के हर रूप की

भाँति कार्यकारण भाव के तुल्य है अपितु यह नियत सम्बन्ध मानव जाति मे सवत्र स्वीकृत है और यह दार्शनिक विचार मे अथवा सामान्य जीवन मे कभी भी विवाद का विषय न हुआ।

अब हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि हम पूर्वानुभव के बल पर सदा भविष्य की स्थिति का अनुमान करते हैं तथा यह भी निश्चित करते हैं कि दो वस्तुएं अथवा घटनाए सदा वैसी ही परस्पर सम्बद्ध रहेगी जैसी रही हैं —यह अब सिद्ध करना एक निरर्थक प्रयास होगा कि मानवीय चेष्टाओ की सुलक्षित एकरूपता तत्सम्बन्धी भावी अनुमान की आधार-शिला है। तथापि इस सिद्धात के विविध पहलुओ पर और आलोक डालने के लिए हम इस विषय पर सक्षेप मे कुछ अधिक आलोचना प्रस्तुत करते हैं—

सकल समाज मे मानवो की परस्पर निभरता इतनी अधिक है कि उनकी कोई भी क्रिया स्वय परिपूर्ण नही रहती अथवा अन्य किसी की क्रिया से असम्बद्ध नही होती जो कि कर्ता की भावना को स्पष्ट करने के लिए परमावश्यक प्रतीत होती है। साधारण से साधारण कर्मठ चाहे वह अकेला ही अपना व्यवसाय करता हो, न्यायाधीश की सहायता की अपेक्षा करता है ताकि वह अपने श्रम का फल अविच्छिन्न रूप से पा सके। वह यह भी आशा करता है कि अपने उत्पादित द्रव्य को बाजार मे रखने पर तथा उचित मूल्य पर बेचने को उद्यत होने पर उसे ग्राहक प्राप्त होंगे और विनिमय से प्राप्त द्रव्य के बल वह अपनी जीवन सामग्री को उपलब्ध कर सकेगा। ज्यो-ज्यो मानव अपने व्यापार को बढाता है और जनता से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करता है, वह अपने जीवन की योजनाओ मे अधिकाधिक मनोनीत कामो की धारणा बनाता है और आशा करता है कि अपने उद्देश्य तथा व्यापार मे सामजस्य सदा बना रहेगा। ऐसे समस्त निणयो मे मानव अपने पूर्वानुभवो से उतना ही प्रेरित होता है जितना बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध मे वह तर्क से प्रेरित होता है। साथ ही साथ वह यह भी दृढ विश्वास बनाये रखता है कि मानव तथा भौतिक तत्व सदा पूर्ववत् आचरण करते रहेगे। एक उत्पादक अपने कर्मचारियो के श्रम पर वस्तु निष्पादन मे उतना ही भरोसा रखता है जितना वह अपने

कि आसपास की दीवारो तथा लोहे की सरियो को, नो वह अपने छुटकारे के लिए लोहे और पत्थर के विरुद्ध चेष्टा करने की सोचता है न कि अध्यक्ष के अपरिवतनीय स्वभाव के विरुद्ध। वही वन्दी जब, वध्यशिला पर आरूढ किया जाता है और अपनी निकटस्थ मृत्यु की प्रतीक्षा मे होता है जब मृत्यु की अवश्यम्भाविता अपने रक्षियो की कर्तव्य-परायणता तथा अविचलता के कारण उतनी ही निश्चित मानता है जितनी कि मृत्युचक्र अथवा वधिक के फरसे पर। उसका मस्तिष्क किसी विचारधारा के साथ दौडता है रक्षियो का उसके पलायन मे अनुमति, वधिक का हत्या व्यापार, मुण्ड का रुण्ड से पृथक्भाव, रक्तस्राव, मूर्छा एव यहा नैसर्गिक हेतुमाला और स्वच्छन्द व्यापार की लगातार शृखला-सी मिलती है, परन्तु मस्तिष्क को एक कडी से दूसरी कडी की ओर आगे बढने मे किसी अन्तर का अनुभव नही होता। किसी तरह भविष्य की घटना के सम्बन्ध मे अनिश्चितता भी प्रतीत नही होती मानो वतमान का अतीत की स्मृति अथवा प्रत्यक्ष से निकट सम्बन्ध ही हो। और निश्चय किसी हेतु शृखला से ही होता है जिसे हम 'स्वरूपगत सापेक्षता' मानते है। वही पूर्वानुभूत कारण परम्परा उसी कार्य को जन्म देती है और ठीक वैसा ही प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर करती है चाहे कारण की शृखला उद्देश्यो, इच्छाओ अथवा चेष्टाओ से गठित क्यो न हुई हो अथवा किसी आकृति अथवा गतिविशेष से। हम चाहे वस्तु का नामकरण पृथक कर दें परन्तु उसकी प्रकृति एव प्रतिक्रिया हमारी समझ पर भिन्न प्रभाव नही डालती।

७० एक मेरा मित्र जिसे मैं धनी एव ईमानदार मानता हूँ और जिसके साथ मेरी घनिष्ट मित्रता है मेरे घर आता है और मेरे आसपास मेरे अनेक परिचायक वतमान है तो मै यह कभी नही सोच पाता कि वह घर से बाहर जाने से पूव मेरे चादी के सामान को चुरा ले जाने की नियत से मुझ पर छुरा चलायेगा। मुझे ऐसी आशका ठीक वैसे ही नही होती जैसे मेरे नवनिर्मित सुदृढ घर के गिर जाने की नहीं होती। तथापि हो सकता है कि मेरे अतिथि को यकायक और अभूतपूर्व उन्माद हो गया हो—अथवा यकायक कही भूचाल आ जाय और मेरा घर डोल उठे और मेरे कानो के पास आ गिरे। इस कारण मैं मेरी मान्यताओ मे परिवर्तन कर सकता

हूँ। मैं यही कहूँगा कि वह आग की ज्वाला की ओर अपना हाथ न बढायेगा अथवा जल जाने तक वहाँ से उसे न हटायेगा और इस बात को मैं विश्वास-पूर्वक पहिले-सी कह सकता हूँ जैसे यह कह सकता हूँ कि यदि वह खिडकी से अपने आप को गिरा ले और मध्य मे उसे कोई सहारा न मिले तो वह आकाश मे क्षण भर मे भी स्थगित न रह सकेगा। किसी भी अविज्ञात उन्माद की आशका पूर्वोक्त घटना की शक्यता का ज्ञान करा सकती है जो वास्तव मे मानवीय निसर्ग के सुविदित नियमो के इतनी प्रतिकूल हो। मध्याह्न मे चेरिग क्रास के मार्ग पर सोने की मोहरो से भरी थैली को भूल जाने पर कोई भी व्यक्ति यह भी मान सकता है कि पख की तरह हवा हो जायगी अथवा वह भी मान सकता है कि घण्टे भर बाद भी वह वही रखी होगी। आधे से अधिक मानव के तर्क इसी प्रकार के अनुभवो, अनुमानो से सम्बद्ध है जिसमे परिस्थिति विशेष मे वर्तमान मानवो के साधारण व्यवहार के अनुभवो पर आधारित कम या ज्यादा निश्चितता पायी जाती है।

७१ मैंने यह कई बार सोचा कि कौनसी ऐसी वजह है कि मानववृन्द ने जब कभी प्रसग आया तो निस्सकोच सापेक्षता सिद्धान्त के तर्क एव प्रयोग मे अस्तित्व को स्वीकृत किया है तथापि यह पाया कि उसे शब्दो मे स्वीकृत करने मे सदा अनिच्छा ही प्रकट की है इतना ही नही वरन् उसके विपरीत अपना मत प्रकाशित करने की मानव जाति मे प्रेरणा है। मेरी समझ मे तो इसका हेतु इस प्रकार का है—यदि मानवशरीर की क्रियाओ को तथा उनके कारणजन्य परिणामो का परीक्षण करें तो हमे पता चलता है कि हमारी ज्ञानशक्ति हमे इससे अधिक नही बताती कि वस्तुविशेष परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं और पूर्वानुभव की परम्परा से हम एक के अस्तित्व पर दूसरे की सम्भाव्यता का अनुमान मनोव्यापार द्वारा करते रहते हैं। यद्यपि मानव की इस अज्ञता के विषय मे निर्णय प्रस्तुत विषय के सूक्ष्म विवेचन का परिणाम क्यो न हो, मानव निसर्ग में यह सहज प्रवणता पायी जाती है कि वह प्रकृतिशक्ति को अधिकाधिक समझना चाहता है और कार्यकारण के बीच एक प्रकार का सापेक्ष सम्बन्ध अनुभव करता है। और आगे चलकर जब वह अपनी चित्तवृत्ति की क्रिया-प्रतिक्रियाओ

की ओर विचार करने लगता है तो उसके अनुभव मे कोई प्रस्फुट सम्बन्ध उद्देश्य एव कार्य के बीच दिखाई नही देता—इस वजह मानव यह मानने लगता है कि भौतिक शक्तियो से उत्पन्न परिणामो मे तथा बुद्धि एव विचार मे जन्य परिणामो मे कुछ तात्विक भेद है। परन्तु जब हमे यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि कारणवाद के सम्बन्ध मे इतना ही बस जानते है कि दो पदार्थो मे सदा सहयोग दीखता है और इसी न्याय के आधार पर हमारा मस्तिष्क एक के होने पर दूसरे के होने का अनुमान करने लगता है तथा हम यह भी पाते है कि ये दो तत्व सदा हमारी स्वतत्र क्रियाओ पर प्रभाव रखते है तो हम सहज ही यह विश्वास करने लगते है कि वही सापेक्षता समस्त कारणो मे रहती होगी। और यद्यपि इच्छाओ के स्वरूप निर्धारण की आवश्यकता को स्वीकार करने मे कई दार्शनिको की पद्धतियो का यह तक विरोध करता हो, हम सूक्ष्म विवेचन के पश्चात यही पाते है कि ऐसा दार्शनिको का विरोध केवल शाब्दिक ही है तात्विक नही। जिस अथ मे हम मानते आये है उस अर्थ मे 'सापेक्षता' को कभी स्वीकार नही किया गया और मैं सोचता हूँ किसी दार्शनिक के द्वारा उसको अस्वीकार किया भी नही जा सकता। सभवत इतना चाहे आपातत प्रतीत क्यो न होता हो कि भौतिक द्रव्यो की क्रिया प्रतिक्रिया मे कायकारण भाव के अतिरिक्त अन्य कोई गहरा सम्बन्ध हो तथा सचेतन प्राणियो की स्वच्छन्द चेष्टाओ मे उस सम्बन्ध को कोई स्थान न हो। वास्तव मे यह ठीक है या नही—यह तो और अधिक परीक्षण पर ही मालूम हो सकता है और दार्शनिको पर यह भार है कि वे अपने वाद को सिद्ध करने के लिये सापेक्षता की परिभाषा व नाम अथवा उसके स्वरूप का यथावत् वर्णन करें और भौतिक कारणो की प्रतिक्रियाओ मे उसके स्थान को निर्धारित कर हमे दिखावें।

७२ सचमुच ऐसा दिखाई देता है कि मानव 'स्वतत्रता और सापेक्षता,' के प्रश्न को गलत सिरे से उठाता है जब वह आत्मिक शक्तियो का परीक्षण कर बुद्धि के प्रभाव तथा इच्छा की प्रेरणाओ को समझने की चेष्टा करता है। इससे पूर्व मानव को इससे अधिक सरल प्रश्न पर विवेचन करना चाहिए—जैसे—शरीर की क्रिया तथा अचेतन या पाशविक जडता

वाले पदार्थ, और यह यत्न करना चाहिए कि वहा कारणभाव और सापेक्षता कहाँ है सिवाय इसके कि दो पदार्थों मे सार्वकालिक सहयोग है जिसके आधार पर एक का होना दूसरे के होने को अनुमानित करवाता है। यदि वहाँ ऐसी स्थिति सचमुच पायी जाती है जो सापेक्षता का पूर्णरूप है और यदि मानसिक व्यापार मे वैसी स्थिति होना सर्वत्र उपलब्ध है तो फिर यह विवाद समाप्त हो जाता है और यदि रह भी जाता है तो वह केवल शाब्दिक चर्चा मात्र है। परन्तु जब तक हम अविवेक के साथ यही मानते रहते हैं कि वाह्य पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रियाओ मे कारणवाद एव सापेक्षता के परे भी कुछ है और साथ ही साथ यह भी मानते रहे कि मानव मनोव्यापार मे हम कोई और प्रभावशाली हेतु नही देख पाते तो प्रस्तुत प्रश्न को कोई ठीक-ठीक आलोच्य स्वरूप हम नही दे पाते और वह तदवस्थ रहेगा तब जब हम गलत धारणाओ को लेकर चलते रहेगे। आत्मवचना से वचने के लिए हमे और ऊपर उठना होगा—भौतिक कारणो के सम्वन्ध मे प्रयुक्त विज्ञान की सकीर्ण परिधि का परीक्षण करना होगा और हमे इस अश मे निर्भ्रान्त हो जाना चाहिए कि हम इतना ही समझते हैं कि भौतिक पदार्थों मे एक अन्वय सम्बन्ध है जो हमारे अनुमान का प्रयोजक है।

हमे ऐसा लगता है कि मानव बुद्धि की इतनी सकीर्ण परिधि निश्चित करने मे कठिनाई का अनुभव हो, परन्तु आगे चलकर यह कठिनाई नही रह जाती जब हम इस सिद्धान्त का समन्वय मानव की इच्छाओ पर करने लगते हैं। कारण, ज्यो-ज्यो यह स्फुट होता जाता है कि उद्देश्य, परिस्थिति तथा चरित्र विशेष मे एक नियत सम्वन्ध है और ज्यो-ज्यो हम एक को देख दूसरी वालो का अनुमान करने लगते हैं तो हमे भी शब्दश मुक्तकण्ठ स्वीकार करना पडता है कि हमारे जीवन के हर पहलू मे हमारे व्यवहार तथा व्यापार के हर सोपान पर 'सापेक्षता' निश्चित रूप से विद्यमान है।[1]

---

१ 'स्वतन्त्रता' के सिद्धान्त के प्रचार का एक और भी कारण वताया जा सकता है—हमारी कई चेष्टाओ के सम्वन्ध मे स्वतन्त्रता

७३ दर्शन एक विवाद पर विज्ञान है और उसमे भी अत्यन्त वादग्रस्त प्रश्न 'स्वच्छन्दता एव सापेक्षता' का है। परन्तु इन दो पहलुओ का समन्वय थोडे से शब्दो मे किया जा सकता है—समग्र मानव जाति ने सदा दोनो ही को माना है—स्वच्छन्दता तथा सापेक्षता—इन दोनो के सम्बन्ध मे विवाद केवल शाब्दिक है—क्योकि स्वेच्छाकृत चेष्टाओ पर स्वच्छन्दतावाद का प्रयोग किया जाय तो तात्पर्य क्या निकलेगा ? यह तो हमारा स्वच्छन्दता से मतलब नही कि मानव चेष्टाओ का उद्देश्य, अभिरुचि तथा परिस्थिति से कोई सम्बन्ध नही, अथवा यह नही भी कहा जा सकता कि किसी न किसी हद तक वे एक दूसरे पर अवलम्बित नही

या उदासीनता की मिथ्या भावना अथवा आपातत अनुभूति। मानसिक अथवा वस्तुलक्षी किसी भी क्रिया की अपेक्षा वास्तव मे कर्तृनिष्ठ कोई गुण नहीं, अपितु चिन्तन अथवा बुद्धिगत धर्म है जो उस क्रिया के सम्बन्ध मे सोचता है और उसका तात्विक रूप उस क्रिया का तत्पूर्व-वर्तीयवस्तुजात के साथ सहयोग के अनुमान के लिये उसके विचारों का विनिर्णय मात्र है—उदाहरणार्थ—स्वच्छन्दता, सापेक्षता के विपरीत और कुछ नहीं है सिवाय पूर्वोक्त विनिर्णय के अभाव के तथा परवर्ती वस्तु या घटना के अनुमान या अनुमान के प्रति एक प्रकार की शिथिलता अथवा उदासीनता के। यहाँ हम यह देख सकते हैं कि मानव की चेष्टाओं पर सूक्ष्म विचार करते समय जो भी हम ऐसी शिथिलता या उदासीनता का अनुभव क्वचित ही करते हैं तथापि हम पर्याप्त निश्चय के साथ परिणामो का अनुमान उद्देश्यो को अथवा कर्ता के स्वभाव को देख कर ही लेते हैं और तब भी कई बार ऐसा होता है कि उन चेष्टाओ को करते समय हमे वैसा कुछ भान होने लगता है और प्राय सदृश पदार्थों के विषय मे एक दूसरे के बदले सहज ग्रहण कर लिया जाता है यह भूल मानव-स्वच्छन्दता का स्वयभूत आन्तरिक एव सुस्पष्ट लक्षण ही माना जाता है। हमे ऐसा लगता है कि हमारी चेष्टाए हमारी इच्छा पर निर्भर है—यह कई बार होता दीखता है—और यह हम कल्पना करने लगते हैं कि वह इच्छा अन्य किसी आधार पर अवलम्बित नहीं है, कारण

रहते अथवा एक का होना दूसरे की समाव्यता का अनुमान नही करने देता। कारण, ये सब तो सीधी मानी हुई बातें हैं। तो फिर 'स्वछन्दता' का मतलब तो इतना ही हो सकता है कि हमारा अपनी इच्छाओ की प्रेरणाओ के अनुसार काम करना या न करना—बस यही स्वच्छन्दता है। अर्थात हम निश्चेप्ट रहना चाहे तो विरत रहे, हम सचेप्ट होना चाहे तो हम क्रिया पर निर्भर रहे। ऐसी स्वच्छन्दता हर व्यक्ति को उपलब्ध है जो कारावास का वन्दी नही है। इतना ही यदि तात्पर्य है तो वाद का कोई विपय नही है।

७४ हम 'स्वच्छन्दता' की चाहे जो परिभापा वनायें हमे दो आवश्यक

इस आधार के अस्वीकार से हम यह मानने लगते हैं कि हमारी इच्छा हर तरह दौड सकती है और स्वयं अपनी प्रतिभा कार्यरूप मे उपस्थित कर देती है। जिसे कुछ दर्शनकार (फिलासेफर) भावविम्व कहते हैं। कभी-कभी उस ओर भी जिधर वह प्रवृत्त नहीं भी हुई थी। वह प्रतिभा अथवा अस्पष्ट गति उस समय वस्तु रूप मे व्याप्त हो गयी थी—ऐसा भी हम मानने को उद्यत हो जाते हैं—कारण यदि हम ऐसा न मानें तो पुन परीक्षण करने पर ऐसा लगने लगता है कि तत्काल वह यो ही हो सकती है। हम यह भूल जाते हैं कि अपनी स्वच्छन्दता को प्रकट करने की यह मिथ्या भावना ही तो हमारी चेष्टाओ को प्रेरित करती है। यह तो निश्चित है कि हम चाहे जितनी स्वच्छन्दता का अपने आप मे अनुभव कल्पित करते हो, कोई भी द्रप्टा हमारी चेप्टाओ का अनुमान हमारे स्वभाव और उद्देश्यों के वल पर ही लेता है। और कभी वह न भी कर पाये तो भी वह साधारण रूप से यह तो निगमन कर ही लेता है। वह अवश्य ही हमारी चेप्टाओं का सही-सही अनुमान कर लेता यदि वह परिस्थिति एव स्वभाव के हर पहलू से भलीभांति परिचित होता अथवा हमारे वाह्य स्वरूप और प्रवणता के गुह्यतम क्रियाशील प्रेरक यत्रो से या प्रेरणा के मूलस्रोतों से पूर्णतया विदित होता। अतएव पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार हमारे द्वारा प्रपच्चित 'सापेक्षतावाद' का यही मर्म है।

वस्तुओ का अवश्य ध्यान रखना होगा---? उसे परिस्फुट वास्तविकता के साथ अविरोधी होना होगा, अर्थात वह परिभाषा प्रत्यक्ष से बाधित नही होनी चाहिए और (२) वह स्वय सुसगत परिभाषा है। यदि हम इन दो शर्तो को निबाहते हुए कोई समझ मे आने वाली परिभाषा बना सकते हैं तो मै समझता हूँ अखिल मानव जाति वहाँ एकमत ही होगी। यह सब मानते हैं कि कारण के बगैर कोई काय हो नही सकता और सूक्ष्मावलोकन पर 'दिष्ट' तो केवल निपेधात्मक शब्दमात्र है और किसी ऐसी वास्तविक शक्ति की ओर वह सकेत नही करता जिसकी प्रकृति मे कही सत्ता हो। परन्तु यह कहा जाता है कि कुछ कारण अपरिहेय होते हैं और कुछ नैमितिक। यही हम परिभाषा का लाभ उठा सकते हैं। चलिये, किसी को 'कारण' की ही परिभाषा प्रस्तुत करनी चाहिए--ऐसी जो लक्षणीय का अश न हो--जैसे 'कार्य' के साथ अविनाभाव सम्बन्ध ही कारण है---लक्षण कर्ता को 'कारण' की मूलभावना परिभाषा मे विषद रूप से प्रकट करनी चाहिए---यदि कोई ऐसी परिभाषा प्रस्तुत करे तो मैं इस दलील को एकदम छोड दूँगा। परन्तु जिस तरह मैंने परिभाषा का स्वरूप निर्दिष्ट किया है वैसी सामने रखना बिलकुल अशक्य है। यदि पदार्थो मे परस्पर एकानुगता न हो तो हम कार्यकारण भाव की कल्पना ही नही कर सकते। और यह प्रत्यक्ष एकान्वय ही हमारे अनुमान को प्रेरित करता है और वही एक स्पष्ट सम्बन्ध है जो हमारे लिए बुद्धिगम्य है।[1]

---

१ अथवा-कारण का लक्षण यह हो कि जो वस्तु का जनक हो, तो यह सहज समझा जा सकता है कि 'जनक' होना ही 'कारण' होना है। उसी तरह यदि यह कहा जाय कि कारण वह है जिसके बल कार्य की सत्ता है—तो भी वही दूषण तदवस्थ है। क्योकि 'जिसके द्वारा, जिससे' इन पदो का आखिर तात्पर्य है ही क्या ? यदि यह कहा जाय कि कारण वह जिसके पश्चाद्भावी कार्य होता है तो हम अवश्य इस परिभाषा को समझ सकते हैं। क्योंकि बस इतना ही तो हम पदार्थो के विषय मे जानते हैं, और यह 'नित्य सम्बन्ध ही 'सापेक्षता' का मूल तत्व है जिसके परे हम कुछ अधिक नहीं जानते।

एकान्वय सम्वन्ध को छोडकर यदि कोई 'कारण' का लक्षण देने की चेष्टा करेगा तो वह कही दुर्वोध पदावली का प्रयोग करेगा अथवा लक्ष्य के पर्यायवाची शब्द ही देगा। यदि 'स्वच्छन्दता' का उपर्युक्त लक्षण स्वीकृत हो तो 'वन्धन' का प्रतियोगी नही, अपितु 'सापेक्षता' का प्रतियोगी 'स्वच्छन्दता' का स्वरूप 'दिष्ट' जैसा ही रहेगा—और 'दिष्ट' कोई तात्विक वस्तु नही—यह सर्वसम्मत तथ्य है।[1]

तर्क पद्धति मे यह प्रकार वहुत प्रचलित है और गलत है कि दार्शनिक वाद-विवाद मे किसी सिद्धात के खण्डन करने की चेष्टा मे धर्म एव आचार नीति की भीषण आपत्ति उठाने का वहाना ढूढा जाय। जव कोई भी मत असगत उत्तर मे परिणत होता हो तो वह निश्चय असत् है परन्तु यह सत्य नही कि उस मत का परिणाम यदि दारुण निकलता हो तो वह असत् समझा जाय। ऐसे विषयो की छानवीन तो सहिष्णुता के साथ ही करनी पडती है कारण उन पर आपत्ति उठाना किसी तथ्य के अन्वेषण में सहायक नहीं होता, केवल प्रतिवादी की कुत्सामात्र करना है। आम तौर पर मैं इस पद्धति से किसी तरह लाभ न उठाते हुए ही विचार करता हूँ। मैं स्पष्टरूप से इस तरह छानवीन मे उतरना पसन्द करता हूँ और ऐसे ही 'सापेक्षता तथा स्वच्छन्दता' के सिद्धातो को दृढता के साथ उपस्थित करने का साहस करूँगा जो न केवल आचार नीति से उत्पन्न होंगे अपितु उसके आधार पर एकदम निर्भर होगे।

७५. 'सापेक्षता' की व्याख्या हम दो प्रकार से कर सकते हैं, जो 'कारण' की द्विविध परिभाषा से सगत होंगे। वजह यह है कि 'कारण' पर ही 'सापेक्षता' अवलम्वित है। 'सापेक्षता' या तो पदार्थो के सार्वकालिक सहअस्तित्व के रूप मे होती है, अथवा एक पदार्थ मे दूसरे पदार्थ की सत्ता के अनुमान रूप में होती है। 'सापेक्षता' इन दोनो ही अर्थों मे (जो वास्तव मे एक ही हैं।) सर्वसम्मति से, चाहे वह पाठशालाओ, भाषण

---

१ तुलना—भारतीय न्यायदर्शन ठीक यही लक्षण देता है—'कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व कारणत्वम्।'

मच पर अथवा सामान्य जीवन में ही कही गयी हो, मानव की इच्छा से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु मानी गयी है। और आज तक किसी ने इसको अस्वीकार नही किया कि हम मानव की चेष्टाओ के सम्बन्ध मे अनुमान कर सकते है अथवा ये अनुमान मानव के उद्देश्य, स्वभाव अथवा परिस्थिति के आधार पर पूर्वानुभूति के बल पर किये जाते है। हा मतभेद यदि कही हो सकता है तो वह चाहे मानव चेष्टाओ के इस स्वरूप को 'सापेक्षता' यह नाम न दे, परन्तु जब तक तात्पय ठीक तरह समझा गया है मुझे आशा है कि शब्द विशेष प्रयोग मे कोई विपत्ति नही। यदि यह स्वीकृत न हो तो उस विचारक को वस्तु की क्रिया प्रतिक्रियाओ के सम्बन्ध मे समन्वय ढूढने के लिए और अधिक आगे प्रस्तुत होना होगा। तथापि यह एक ध्रुव सत्य है कि इसका धर्म अथवा अचार नीति से कोई सम्बन्ध नही, चाहे उसका सम्बन्ध कितना ही प्राकृतिक दशन अथवा अध्यात्मविद्या से क्यो न हो। यह कहना हमारी भूल होगी कि शारीरिक चेष्टाओ मे अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध अथवा निर्भरता न हो, परन्तु यह निश्चित है कि हम मानसिक व्यापार को ऐसा कोई रूप नही दे सकते जिसका प्रतिफल मानव की क्रिया पर न पाया जाता हो। इच्छा की प्रेरक शक्ति के सम्बन्ध में हमारी पुरातन तर्क पद्धति मे कोई अन्तर नही है जो भी कुछ विशेष पाया जाता है वह है केवल भौतिक पदार्थों और उनके कारणो के सम्बन्ध मे। अतएव पूर्वोक्त सिद्धान्त की अपक्षा अन्य कोई निगमन निर्दोष सिद्ध नही होता।

७६ समस्त नियम प्रशसा एव दण्ड पर आधारित हैं अतएव यह एक मौलिक सिद्धान्त माना जाता है कि इन उद्देश्यो का मन पर बडा गहरा प्रभाव है और दोनो ही वासनाए सत् को प्रोत्साहित करने तथा असत् का दमन करने मे सफल है। इस प्रभाव का नामकरण हम चाहे जैसे करें, तथापि जहाँ तक इसका मानव चेष्टा से सम्पर्क है उसे 'कारण' कहना ही पडेगा और साथ ही 'सापेक्षता' का प्रतीक मानना ही होगा जिसे हम यहा प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहे ह। घृणा अथवा प्रतिशोध का यदि योग्य विषय बन सकता है और जब कभी कोई अपराधी अथवा हानिकर कर्म उस भावना को जागृत करता है तो निश्चय वह भावना

उस व्यक्ति पर अथवा तत्कर्तृक क्रिया पर ही आधारित रहती है। चेष्टाए स्वय क्षणिक एव नश्वर होती हैं और यदि वे व्यक्ति विशेष के चरित्र अथवा स्वभाव के कारण नही पैदा होती तो उन चेष्टाओ के अच्छी होने पर न तो वह उस व्यक्ति का गौरव ही बढा सकती और न बुरी होने पर उसे कलकित ही कर सकती। कार्य स्वय चाहे गर्ह्य क्यो न हो परन्तु यदि व्यक्ति पर उनका उत्तरदायित्व न हो, कारण वे मानव के किसी शाश्वत एव ध्रुव अश से निस्सृत न होकर स्थायी रूप मे उसमे विद्यमान नही पाये जाते, तो वह कभी भी दण्ड अथवा प्रतिशोध का विषय बन ही नही सकता। तो फिर 'सापेक्षता' और साथ ही 'कारणवाद' के सिद्धात को अस्वीकार करने वालो के मत मे तो मानव सदा विशुद्ध एव निर्दोष ही रहेगा चाहे उसने कितना ही भीषण से भीषण पातक क्यो न किया हो और और वह वैसा ही स्वच्छ समझा जायगा जैसा वह जन्मा था। उसी तरह उसके कामो का भी सम्बन्ध किसी तरह उसके चरित्र से न रह जायगा क्योंकि उनके मत मे मानव चेष्टाए चरित्र निरपेक्ष मानी जाती हैं—फलत यही परिणाम निकलेगा कि चेष्टागत दोष चरित्र की हीनता को उपपादित न करेगा।

मानव भूल से अथवा प्रसगवश किये हुए काम के लिए, चाहे कितना ही वह भारी क्यो न हो, दोषी नही ठहाराया जाता—क्यो? कारण स्पष्ट है—ऐसी चेष्टाओ का मूलाधार स्थायी नही है और वह उस चेष्टा विशेष की समाप्ति के साथ लीन हो जाता है। उसी तरह त्वरा में अथवा अविवेकता मे किये हुए कामो के लिए भी मानव अपेक्षाकृत कम दोषी गिना जाता है—वह उतना अपराधी नही समझा जाता जितना वह समझ-बूझ कर ठण्डे दिल से किये हुए कदाचार के लिए होता है। आखिर ऐसा क्यो? कारण यह है कि त्वराशील स्वभाव यद्यपि कुछ स्थायी कारण अथवा मनोवृत्ति का रूप है तथापि वह व्यवधानपूर्वक क्रिया पर होता है तथा उस व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र को दूषित नही करता। और लीजिये—अनुताप अपराध को धो देता है यदि वह जीवन तथा व्यवहार के सुधार की ओर प्रवण हो—इस सिद्धान्त का फिर कौन आधार होगा? उत्तर यही है कि वे ही चेष्टाए पुरुष को अपराधी बनाती

हैं जिनका अस्तित्व उसकी दूषित वृत्ति से उद्भूत है, और यदि ऐसी कोई कारण सामग्री उपस्थित है जो उस वृत्ति को प्रमाणित नही करती तो वे सदोष कार्य को भी अपराध कोटि से बाह्य कर देती है। स्पष्ट बात तो यह है कि सापेक्षतावाद के बिना कोई भी चेष्टा दोष अथवा दोषाभाव के लिए प्रमाण नही हो सकती और न दूषित चेष्टा कर्ता को अपराधी ही सिद्ध कर सकती है।

७७ इसी तर्क परम्परा से यही सिद्ध करना सरल है कि पूर्व प्रतिपादित सर्वसम्मत परिभाषा के आधार पर 'स्वच्छन्दता' भी आचारनीति के अनुकूल ही रह सकती है और नैतिकता का आधार न होने पर कोई भी मानव व्यापार प्रशसा अथवा निन्दा का पात्र हो सकता—कारण हमारे काम हमारी नैतिक भावनाओ के विषय है और वे भीतरी वासनाओ, भावनाओ तथा चरित्र के प्रतीक मात्र हैं और जो इन नैतिक भावनाओ पर अवलम्बित न हो उनके सम्बन्ध मे प्रशसा अथवा निन्दा को उद्बुद्ध करना अशक्य है चूकि वे वाह्य कारणो के आघात से जनित है।

७८ उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध सकल आपत्तियो का मैं दूरीकरण अथवा खण्डन कर पाया हूँ। यह मेरा दावा नहीं है कि कारण सापेक्षता तथा स्वच्छन्दता के इस सिद्धात के विरुद्ध और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और वे युक्तियाँ उन विषयो को लेकर प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनका विवेचन प्रकृत प्रकरण मे नही किया गया है। उदाहरणार्थ—यह कहा जा सकता है कि यदि समस्त स्वच्छन्द चेष्टाए बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध मे सदा प्राकृतिक नियमो पर ही आधारित हैं तो सापेक्ष कारणो की एक अनुस्यूत शृखला बटती हुई रहेगी और वे कारण वे ही होंगे जो पूर्व विहित तथा पूव निर्धारित हो—इस तरह मानव की हर चेष्टा पारस्परिक रूप मे एक ही मूल कारण से निस्सृत होगी। ऐसा मान लेने पर तो जगत् मे कही किसी तरह की औपधिकता न होगी, न होगी उदासीनता और न रहेगी स्वच्छन्दता। हमारे कर्तृत्व के साथ हम क्रिया के विषय भी बने रहेंगे। तो हमारी समस्त इच्छाओ का प्रेरक जगन्निर्माता प्रजापति ही होगा। जिसने की इस विश्व के विशाल यत्र को सर्वप्रथम गति प्रदान और जिसने सकल वस्तुजगत् को स्थितिसम्पन्न किया जहाँ से उतर

प्रत्येक घटना अनिवार्य आवश्यकता से अनुप्रमाणित हो परिणत हुई। इस तरह तो मानव की किसी भी क्रिया मे नैतिक दोप का होना माना ही नही जा सकेगा कारण तव ही चेप्टा परमेश्वर के द्वारा प्रेरित है जिसमे हेयगुण का साहित्य स्वीकृत है। और यदि कही नैतिक दोप हो भी तो उसका अपराधी विश्वस्रप्टा ही माना जायगा यदि वह सकल व्यापार का चरम कारण एव कर्ता कहा जाय। जैसे वह पुरुप जो खदान मे आग फूंकता है वही सकल परिणामो के लिए उत्तरदायी गिन जाता है चाहे उस कार्य के सम्पादन मे अन्य व्यक्ति कम या ज्यादा क्यो न हों, उसी तरह यदि कारणो की शृखला एक कडी से दूसरी तक लगी हुई मानी जाय तो अन्तत तो वही पुरुप-चाहे सर्वशक्तिमान हो अथवा अल्पशक्तिमान असीम हो या ससीम—जिसने प्रथम गति प्रदान की हो, समस्त परिणामो का जनक माना जायगा और सारी निन्दा अथवा प्रशसा का पात्र भी वही होगा। हमारे अन्त करण मे स्पप्ट एव अपरिवर्तनीय रूप से निर्धारित ये भावनाए इसी नियम को सिद्ध करती हैं। जिस पर कोई वाद नही उठाया जा सकता। जव हम मानव की चेप्टाओ के परिणामो का विश्लेपण करते हैं और वह नियम अधिक वलवान तव हो जाता है जव उसका समन्वय हम उस सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान परम पुरुप पर करने लगते है। मानव जैसे पामर व्यक्ति के लिए दुर्वलता तथा अज्ञता का उपदेश लिया जा सकता है परन्तु इन त्रुटियो के लिए परम पुरुप के पास स्थान कहाँ। उसे तो पूर्व मे ही भान था जव उसने मानव की चेप्टा का विधान किया और मानव की सकल चेप्टाए तो उसी की मनीषारूप हैं जिन्हे हम इतने अविवेक के साथ पोपित करते हैं। अतएव हमे इस निगमन पर पहुँच जाना चाहिए कि वे सदोप नही हैं अथवा परमेश्वर—न कि मानव—उनका उत्तरदायी है। हर सूरत मे यह निगमन अनुपपन्न तथा अधर्म्य है। अतएव यही मानना होगा कि वह सिद्धान्त गलत ही है जो ऐसी असगत वातें सामने रखता है और जिस पर सव तरह आपत्ति उठायी जा सकती है। अनुपपन्न निगमन सदा सिद्धान्त की अनुपपति को प्रमाणित करता है जिस तरह अपराध मूल कारण को सदोप सिद्ध करता है उनमे परस्पर सम्वन्ध जैसा भी अपरिहार्य अथवा परिहेय रहा हो।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के दो अवयव हैं और इनकी समीक्षा हम पृथक्-पृथक् ही करेंगे—

१–प्रथम तो यह है कि यदि मानव चेष्टाओ का मूल प्रयोजक हेतु क्रमश एक ही परम पुरुष तक पहुच जाता हो तो वे कभी भी दोपावह नही कही जा सकती क्योकि वे ऐसे परम सिद्ध पुरुप से प्रसूत है जो सदा सत् एव शुभ के सिवाय और किसी का निर्माण सोच ही नही सकता। अथवा—२—यदि वे चेष्टाए दोषावह मानी जाँय तो हमे उस महान् पुरुप के गुणो मे से चरम सिद्धि तथा परिपूर्णता का अश रहित करना पडेगा और यह मानना पडेगा कि स्वयमुत्पादित प्राणिवर्ग के अपराधो तथा अनैतिक व्यवहारो का पारस्परिक रूप से वही कर्ता है।

७९ पूर्वपक्ष के प्रथममाश का उत्तर तो स्पष्ट एव प्रत्यायक है। कई ऐसे दार्शनिक हैं जो प्राकृतिक वस्तु का सूक्ष्म विवेचन कर इस निर्णय पर पहुचे हैं कि यह विश्व एक समूची सृष्टि के नाते हर युग मे सदा पूर्ण-रूप से हितकारी ही रचा गया है और परिणाम मे हर जीव को एकान्त सुख ही उपलब्ध होगा जिसमे अभद्र अथवा दुख का सम्मिश्रण विलकुल न हो। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक भौतिक बुराई इस लोक मगलमयी सृष्टि का एक अश है जो सम्भवत सृष्टा के द्वारा भी हटाया नही जा सकता जो एक सर्वज्ञ कर्त्ता के रूप मे न तो अधिक बुराई को ही आने देता और अधिकाधिक भलाई को ही आने से मना करता। इस सिद्धात के आधार पर कई दार्शनिको को—विशेपकर स्टोइक विचारको को—हर सकट मे सन्तोप का विपय उपलब्ध हुआ है—वे अपने अनुयायी को बताते हैं कि वे कष्ट, जिनका उन्हे सामना करना पडता है, वास्तव मे विश्वमगल के स्वरूप है और इसी दृष्टिकोण को यदि और व्यापक बनाया जाय तो इस समग्र विश्व के समष्टि रूप मे प्रत्येक घटना केवल हर्ष एव प्रमोद का ही विपय है। तथापि यह विपय व्यापक एव उदात्त क्यो न हो लोक व्यवहार मे दुर्बल तथा प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। यदि तुम किसी वातव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को विश्वव्यापी नियमो का उपदेश करने लगो तो उसे सान्त्वना की अपेक्षा कही अधिक कुपित ही करोगे जिनके कारण शरीर के अन्तगत त्रिदोप कुपित होकर सकल शरीर मे व्याप्त हो उसे

प्रत्येक घटना अनिवार्य आवश्यकता से अनुप्रमाणित हो परिणत हुई। इस तरह तो मानव की किसी भी क्रिया मे नैतिक दोप का होना माना ही नही जा सकेगा कारण तव ही चेप्टा परमेश्वर के द्वारा प्रेरित है जिसमे हेयगुण का साहित्य स्वीकृत है। और यदि कही नैतिक दोप हो भी तो उसका अपराधी विश्वस्रप्टा ही माना जायगा यदि वह सकल व्यापार का चरम कारण एव कर्ता कहा जाय। जैसे वह पुरुप जो खदान मे आग फूंकता है वही सकल परिणामो के लिए उत्तरदायी गिन जाता है चाहे उस कार्य के सम्पादन मे अन्य व्यक्ति कम या ज्यादा क्यो न हो, उसी तरह यदि कारणो की शृखला एक कडी से दूसरी तक लगी हुई मानी जाय तो अन्तत तो वही पुरुप-चाहे सर्वशक्तिमान हो अथवा अल्पशक्तिमान असीम हो या ससीम—जिसने प्रथम गति प्रदान की हो, समस्त परिणामो का जनक माना जायगा और सारी निन्दा अथवा प्रशसा का पात्र भी वही होगा। हमारे अन्त करण मे स्पप्ट एव अपरिवर्तनीय रूप से निर्धारित ये भावनाए इसी नियम को सिद्ध करती है। जिस पर कोई वाद नही उठाया जा सकता। जव हम मानव की चेप्टाओ के परिणामो का विश्लेपण करते है और वह नियम अधिक वलवान तव हो जाता है जव उसका समन्वय हम उस सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान परम पुरुप पर करने लगते हैं। मानव जैसे पामर व्यक्ति के लिए दुर्वलता तथा अज्ञता का उपदेश लिया जा सकता है परन्तु इन त्रुटियो के लिए परम पुरुप के पास स्थान कहाँ। उसे तो पूर्व मे ही भान था जव उसने मानव की चेप्टा का विधान किया और मानव की सकल चेप्टाए तो उसी की मनीपारूप हैं जिन्हे हम इतने अविवेक के साथ पोपित करते है। अतएव हमे इस निगमन पर पहुँच जाना चाहिए कि वे सदोप नही है अथवा परमेश्वर—न कि मानव——उनका उत्तरदायी है। हर सूरत मे यह निगमन अनुपपन्न तथा अधर्म्य है। अतएव यही मानना होगा कि वह सिद्धान्त गलत ही है जो ऐसी असगत बाते सामने रखता है और जिस पर सव तरह आपत्ति उठायी जा सकती है। अनुपपन्न निगमन सदा सिद्धान्त की अनुपपति को प्रमाणित करता है जिस तरह अपराध मूल कारण को सदोप सिद्ध करता है उनमे परम्पर सम्बन्ध जैसा भी अपरिहेय अथवा परिहेय रहा हो।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के दो अवयव है और इनकी समीक्षा हम पृथक्-पृथक् ही करेंगे—

१–प्रथम तो यह है कि यदि मानव चेष्टाओ का मूल प्रयोजक हेतु क्रमश एक ही परम पुरुप तक पहुच जाता हो तो वे कभी भी दोपावह नही कही जा सकती क्योंकि वे ऐसे परम सिद्ध पुरुप से प्रसूत है जो सदा सत् एव शुभ के सिवाय और किसी का निर्माण सोच ही नही सकता। अथवा—२—यदि वे चेष्टाए दोषावह मानी जाँय तो हमे उस महान् पुरुप के गुणो मे से चरम सिद्धि तथा परिपूर्णता का अश रहित करना पडेगा और यह मानना पडेगा कि स्वयमुत्पादित प्राणिवर्ग के अपराधो तथा अनैतिक व्यवहारो का पारस्परिक रूप से वही कर्ता हैं।

७९ पूवपक्ष के प्रथममाश का उत्तर तो स्पप्ट एव प्रत्यायक है। कई ऐसे दाशनिक हैं जो प्राकृतिक वस्तु का सूक्ष्म विवेचन कर इस निर्णय पर पहुचे है कि यह विश्व एक समूची सृष्टि के नाते हर युग मे सदा पूर्ण-रूप से हितकारी ही रचा गया है और परिणाम मे हर जीव को एकान्त सुख ही उपलब्ध होगा जिसमे अभद्र अथवा दुख का सम्मिश्रण बिलकुल न हो। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक भौतिक बुराई इस लोक मगलमयी सृष्टि का एक अश है जो सम्भवत सृष्टा के द्वारा भी हटाया नही जा सकता जो एक सर्वज्ञ कर्त्ता के रूप मे न तो अधिक बुराई को ही आने देता और अधिकाधिक भलाई को ही आने से मना करता। इस सिद्धात के आधार पर कई दार्शनिको को—विशेपकर स्टोइक विचारको को—हर सकट मे सन्तोप का विपय उपलब्ध हुआ है—वे अपने अनुयायी को बताते हैं कि वे कप्ट, जिनका उन्हें सामना करना पडता है, वास्तव मे विश्वमगल के स्वरुप है और इसी दृप्टिकोण को यदि और व्यापक बनाया जाय तो इस समग्र विश्व के समप्टि रूप मे प्रत्येक घटना केवल हर्प एव प्रमोद का ही विपय है। तथापि यह विपय व्यापक एव उदात्त क्यो न हो लोक व्यवहार मे दुबल तथा प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। यदि तुम किसी वातव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को विश्वव्यापी नियमो का उपदेश करने लगो तो उसे सान्त्वना की अपेक्षा कही अधिक कुपित ही करोगे जिनके कारण शरीर के अन्तगत त्रिदोप कुपित होकर सकल शरीर मे व्याप्त हो उसे

इतनी भयकर वेदना दे रहे हैं। यह व्यापक दृष्टिकोण भले ही किसी सुखी दार्शनिक को क्षणभर आनन्ददायक हो परन्तु वह न तो उसके मन में भी चिरस्थायी रह सकता है चाहे वह किसी भी वेदना अथवा उग्र भावना से कितना ही अछूता क्यो न हो। ऐसे ये दार्शनिक अपने सिद्धान्त पर अटल नही रह सकते जब उनका संघर्ष ऐसे कठोर प्रतिपक्षियो से ठहर जाय। वेदना के भाव विषय को स्वाभाविक रूप मे ग्रहण करते है और उसे सकीर्ण आलोक मे ही देखते हैं। साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से वे मानव मस्तिष्क की निर्बलताओ को ध्यान मे रख उन्ही भावनाओ में प्रेरित होते है जो उनके समक्ष निजी जीवन क्रम मे भली या बुरी प्रतीत होती है।

८०. जैसी स्थिति भौतिक अरिष्टो की है ठीक वैसी ही नैतिक की भी। यह मानना तो शुद्ध तर्क न होगा कि वे पारम्परिक हेतु जिनका एक वस्तु पर इतना स्वल्प प्रभाव दीखता है किसी अन्य वस्तु पर उसका अत्यन्त अधिक प्रभाव न हो। प्रकृति ने मानव मस्तिष्क की कुछ ऐसी रचना की है कि एक खास तौर के स्वभाव, काम अथवा चरित्र को प्रशसा अथवा घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। और ये भाव न तो उसके रचना के और न उसके सविधान के अवयव है। वे चरित्र हमारे प्रशसा के पात्र बन जाते है जो विशेषकर मानव समाज मे शान्ति एव सुरक्षा के सहायक होते हैं, वे पात्र हमारी घृणा के विषय हो जाते हैं जो समाज के लिए अहितकर चेष्टाए करते हैं अथवा शान्तिभग के उत्तेजक होते हैं। इन उदाहरणो को देख यह माना जा सकता है कि नैतिक भावो का प्रादुर्भाव साक्षात् अथवा पारस्परिक रूप मे इन्ही युगल परस्पर विरोधी भावनाओ के कारण होता है। चाहे दार्शनिक विचार क्यो न इनसे विपरीत कल्पना अथवा मत अपनाये, क्या समष्टि रूप मे देखने पर विश्व में सब कुछ अच्छा ही है और वे धर्म, जो समाज मे हलचल पैदा कर दें, वह भी सब अच्छे ही है और वे उतने ही प्रकृति के मुख्य लक्ष्य के सहायक हैं जितने कि दूसरे, जो साक्षात रूप मे सुख और कल्याण के सम्पादक है। क्यो ये पारस्परिक एव अनिश्चित कल्पनाए हमारे उन भावो के समकोटि बन सकती हैं जो वस्तु के साक्षात एव नैसर्गिक स्वरूप मे उद्भूत होते हैं?

क्या वह पुरुष जिसकी एक बडी धनराशि लूट ली गयी है कभी इन उदार विचारो से सान्त्वना पा सकता है ? क्यो कर तब उसका अपराधो के विरुद्ध नैतिक कोप इन विचारो के साथ असगत पाया जाय ? अथवा क्यो नही गुण अवगुण के बीच वर्तमान अन्तर समस्त दार्शनिक विचारधारा मे सामजस्य के साथ अन्तर्भूत नही होता जैसे शारीरिक सौन्दय अथवा कुरूपता का तात्विक भेद। उभय प्रकार का यह द्वैधीभाव मानव मस्तिष्क के सहज भावो पर आधारित है और इन भावो का नियन्त्रण अथवा परिवर्तन किसी भी दाशनिक सिद्धान्त अथवा तर्क द्वारा नही किया जा सकता।

८१ पूर्वपक्ष के दूसरे अश का प्रत्युत्तर इतनी सरलता के साथ अथवा सन्तोषजनक रूप मे नही दिया जा सकता। न यह भी स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है कि किस तरह परमेश्वर मानव के समस्त कार्य का प्रेरक माना जाय जब तक उससे पाप एव नैतिक अनाचार का कर्तृत्व स्वीकृत न हो। ये वे परमगुह्य तत्व हैं जिनका विवरण सामान्य बुद्धि के द्वारा नही किया जा सकता। चाहे जो दाशनिक पद्धति को अपना ले, वह सदा न सुलझने वाली गुत्थियो मे ही फसी रहेगी और उसे प्रतिपद विरोध का अनुभव करना होगा। अलौकिक ज्ञान अथवा पूर्वावबोध द्वारा मानवीय चेष्टाओ मे असगति तथा यदृच्छा के बीच सामजस्य को स्थापित करने की चेष्टा करना अथवा दिष्ट का अन्तिम निणय मानना और साथ ही साथ जगन्नियन्ता को अपराध मुक्त समझना यह सब दाशनिक शक्ति के बिलकुल परे है। यह कही अच्छा हो कि वह (दर्शन) अपनी इस अविनृश्यकारिता का अनुभव कर ले और इन परम गहन रहस्यो मे उतरने से बचा रहे। इतनी उलझनो तथा अगम्य रूप के दृश्यो से दूर रहकर समुचित विनय के साथ अपने सच्चे और समुचित दायरे मे लौटकर सर्वसाधारण जीवन एव व्यवहार का परीक्षण करने मे ही सीमित रहे। जिनमे भी जाँच करते हुए अनेक कठिनाइयाँ बिना उस सन्देह अनिश्चय एव परस्पर वोध के अगाध महासागर मे डूबते ही उसके सामने उपस्थित होती रहेगी।

नवाँ परिच्छेद

प्राणिवर्ग की वृद्धि

८२ भौतिक पदार्थो के सम्बन्ध मे हमारे तर्क उपमिति पर आधारित होते हैं जिससे हम सुसदृश कारणो से अनुरूप कार्यो के प्रजनन को पहिले कभी देख वैसे ही कारणो की उपस्थिति मे वैसे ही कार्यो की उत्पत्ति की सम्भावना करने लगते हैं। जहाँ कारणो मे नितान्त सादृश्य हो वहाँ तो उपमिति प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है और तन्मूलक अनुमान निश्चित एव शुद्ध हो सकता है जैसे लोहे के टुकडे को देख यह कहा जाय कि इसमे वजन एव अवयवगत सान्द्रता है—उसी तरह अन्य निदर्शन भी हैं जो उपमिति के विषय मे हैं परन्तु जहाँ कारणो मे इतना निकट सादृश्य नहीं है वहाँ उपमिति भी अत्यन्त शुद्ध एव अबोध नही होती तथा तन्मूलक अनुमान पूर्णतया सिद्ध नही हो सकता, यद्यपि सादृश्य एव सरूपता के अनुपात मे वहाँ तथ्य होने की सम्भावना अवश्य है। एक प्राणी के शरीर का विच्छेद [कर प्राप्त शरीरज्ञान भी इसी प्रकार के तर्क का मूल है जब उस ज्ञान का प्रयोग अन्य प्राणियो की देह रचना के सम्बन्ध मे किया जाय और यह एक ध्रुव सत्य है कि जब मछली या मेढक या किसी अन्य एक प्राणि मे रक्त प्रवाह एक-सा पाया जाता है तो यह अनुमान उचित है कि इसी तरह रक्त प्रवाह समस्त प्राणियो के शरीर मे होता है। उपमितिजन्य तर्क और भी व्यापक बनाये जासकते हैं और मनोविज्ञान पर भी लागू किये जा सकते हैं। कोई भी सिद्धान्त जिसके द्वारा हम बुद्धि के व्यापार अथवा मानव हृदय के भावो का उद्गम अथवा जन्यजनक भाव को समझते हैं यदि किसी एक निदर्शन पर अन्वित होता है तो अवश्य ही वह अन्य निदर्शनो पर भी समन्वित होगा। हम इसका परीक्षण करेंगे और पूर्व अध्याय मे प्रकल्पित पूर्व सिद्धान्त का समन्वय प्रायोगिक तर्क के क्षेत्र मे कितना हो सकता है इसकी जाँच करने का

यत्न करेंगे और आशा है कि समीक्षा का यह नूतन विन्दु हमारे पूर्व प्राप्त निगमनो को सुदृढ बनाने मे सहयोग देगा।

८३ सबसे पहिली बात यह तो स्पष्ट है कि मानव तथा अन्य सकल प्राणी भी अनुभव से अनेक चीजें जान जाते है और यह अनुमान कर लेते हैं कि उन्ही कारणो से वे ही कार्य प्रसूत होगे। इस सिद्धान्त के वल वे वाह्य पदार्थो के स्फुट धर्मों से अवगत हो जाते हैं और क्रमश जन्म से ही पृथ्वी तेज, प्रस्तर, ऊचाई, गहराई तथा तज्जन्य परिणामो का ज्ञान सचित कर लेते हैं। इसी वजह तरुण के अज्ञान और अनुभवहीनता मे और वृद्ध की चातुरी एव दूरदर्शिता मे अन्तर पाया जाता है। कारण वृद्ध अपने सुदीघ अनुभव से यह जान लेता है कि कौन वस्तु उसके लिए हितकर एव हानिकारक होगी। मैदान मे कूदने का अभ्यास करके घोडा भी ऊचाई की कल्पना करने लगता है और वह कभी भी अपनी शक्ति एव सामर्थ्य का अतिक्रम नही करता। एक पुराना शिकारी कुत्ता किसी छोटे जानवर की चाल कि वह कितनी देर मे थक जाता है, इस वोध पर विश्वास रख इस हिसाब से दौडता है कि वह खरगोश की दौड का मुकाविला, बराबर करता है—उसका यह अनुमान और किसी चीज के आधार पर नही लेता सिवाय उसके अनुभव तथा पूर्ववत निरीक्षण के।

प्राणियो को दी हुई शिक्षा एव अनुशासन के प्रभाव तो और भी अधिक स्पष्ट है—शावास के वचन अथवा पारितोषिक एव दण्ड के समुचित प्रयोग से जानवर किसी भी काम को सीख लेते हैं चाहे वह उनकी नैसर्गिक चेतना तथा प्रवृत्तियो के कितना ही प्रतिकूल क्यो न हो? क्या यह अनुभव का फल नही कि कुत्ता वेदना की प्रतीति करने लगता है ज्योही तुम उसे धमकाने लगते हो अथवा चाबुक पर हाथ रखने को होते हो? और क्या यह अनुभवजन्य प्रतीत नही है कि अपने नाम से पुकारे जाने पर उठने लगता है और उस यदृच्छा सन्निविष्ट ध्वनिसमूह से कल्पना करने लगता है कि आप का अभिप्राय उसी से है और उसके अ य साथियो से नहीं और जब वह आपके शब्द एव स्वर विशेष को सुनकर आपके पास तुरन्त आ पहुँचता है?

हम समझ सकते हैं कि इन सब निदर्शनो मे यह देखते हैं कि प्राणी

उसके साधारण इन्द्रिय गोचर ज्ञान से कही अधिक समझ लेता है, वह अप्रत्यक्ष बोध अनुमान जन्य होकर पूर्वानुभव पर आधारित है जब वह वर्तमान स्थिति अथवा वस्तु से उसी परिणाम या घटना की आशा करने लगता है जैसी तत्सदृश स्थिति मे पहिले कभी हुई थी।

८४ दूसरी बात यह है कि जानवर इस बोध को किसी तर्क शक्ति या विचार बुद्धि से पाता है—यह मानना तो अशक्य है। उसके बोध की जड तो यही है कि सदा एक-सी परिस्थिति मे परिणाम वैसा ही होता है और यह आभास कि निसर्ग की प्रवृत्ति सदा एक सी होती है। यदि इस प्रतिज्ञा के मूल मे कोई तर्क है तो वह अबोध प्राणियो के लिए अगम्य है, कारण वह तर्क तो किसी भी दार्शनिक बुद्धि की सूक्ष्म सतर्कता के लिए पर्याप्त है। अतएव यही कहना सगत होगा कि ऐसी कल्पनाओ मे प्राणिवर्ग तर्क का अवलम्बन नही करते और उसी तरह अबोध शिशु भी और प्राकृत जन भी अपने सामान्य कामो मे तथा निर्णयो मे तर्क को नही अपनाते। और यही स्थिति दार्शनिको की भी है जो अधिकाशत अपने जीवन मे प्राकृतजन की तरह ही व्यवहार करते है और उन्ही नियमो पर चलते हैं। प्रकृति ने अवश्य ही प्राणियो को कोई अन्य आशुग्राही तथा साधारणोपयोगी, सर्वत्र व्यापक साधन दिया होना चाहिए—यह तो सम्भव नही कि कारण से कार्य के अनुमान करने जैसी भौतिक महत्व की तर्कशक्ति इतने बोध के अनिश्चित तरीको पर विश्वास के साथ छोड दी जाय। यदि ऐसे किसी नैसर्गिक साधन का होना मानव मे नही माना जाता हो तो भी अन्य तिर्यग्जीवो मे तो उसके सिवाय और हो भी क्या सकता है। और यदि ऐसे साधन का अस्तित्व निम्नकोटि के प्राणिवर्ग मे हो सकता है तो फिर मानव मे उसी के अस्तित्व के विषय मे सन्देह के लिए कोई स्थान नही रह जाता। कारण एकत्र किसी एक वस्तु का होना सादृश्य प्रमाण के आधार पर इस सम्भावना को दृढ बना देता है कि वही वस्तु अन्यत्र वैसी ही जगह पर अवश्य होगी। यह पूर्वाभ्यास ही एक मात्र एक ऐसा साधन है जो प्राणिवर्ग को यह कल्पना करा देता है कि उनके प्रत्यक्षगोचर किसी पदार्थ होने पर उसके परिणामी का वहाँ सहास्तित्व होगा। इसी कल्पना को हम 'प्रत्यय' कहते हैं। सचेतन जीवो मे ऊचे या नीचे इस प्रत्यय के उत्पन्न

होने का कोई और कारण नही बताया जा सकता जो हमारे देखने मे आया हो।[1]

---

[1] वस्तु लक्ष्मी अथवा कारण सम्बन्धी सकल तर्क पूर्वाभ्यास से प्राप्त होते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि क्योकर मानव अन्य प्राणियो से तक मे बढकर होता है और क्योकर एक मानव दूसरे से अधिक प्रवीण होता है ? क्या वह अभ्यासज ज्ञान सब प्राणियों पर एक सा प्रभाव नहीं रखता ?

हम अब यहाँ मानव बोध मे जो महान् अन्तर है उसका सक्षेप मे विवेचन करने का यत्न करेंगे तत्पश्चात् मानव एव अन्य प्राणियो की बोध शक्ति मे अन्तर समझना सरल हो जाएगा—

१ जब हम कुछ समय तक रह लेते हैं तथा प्रकृति की एकरूपता से भलीभाति परिचित हो जाते हैं तो हमे एक सामान्य अभ्यास-सा हो जाता है जिसके बल हम ज्ञात से अज्ञात भी होगा यह कल्पना भी करने लगते हैं। इस अभ्यास के साधारण नियम के बल इस प्रयोग को भी हम तर्क का आधार बना लेते हैं और जब वह प्रयोग बाह्य स्थितियो से अप्रभावित तथा सूक्ष्मता के साथ किया गया हो तो वह किसी हद निश्चय के साथ हमे तत्सदृश घटना का अनुमान करा देता है। अतएव यह एक महत्व का विषय है कि हम वस्तु अथवा घटना का पौर्वापर्य नियम भली-भाति देखें और चूकि एक मानव दूसरे की अपेक्षा सावधानी, निरीक्षण तथा स्मृति मे अधिक बलवान् होता है उसकी तर्कशक्ति भी तदनुरूप ही होती है।

२ जब किसी कार्य की उत्पत्ति मे अनेक या विविध कारणो का सहयोग होता है तो एक मस्तिष्क दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यापक होने से सकल कारण वर्ग का भलीभाति बोध कर पाता है और तजन्य परि-णामो को भी अधिक अच्छा अवगत कर सकता है।

३ किसी व्यक्ति मे कार्य जात की परम्परा का दूर का अनुशरण करने की अधिक शक्ति होती है इसी से उसमे दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा तर्क शक्ति अधिक बलवती पायी जाती है।

४ बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो दीर्घसमय एक सूत्र से सोच

८५ यद्यपि प्राणिवर्ग अपने ज्ञान का अधिक भाग निरीक्षण द्वारा प्राप्त करता है, तथापि कई अग ऐसे है जो वह प्रकृति के हाथ साक्षात् अधिगत करता है। ये अश इतने उनकी साधारण शक्ति की अपेक्षा कही अधिक बलवान् होते है और वे सुदीर्घ अभ्यास एव अनुभव से उन प्रकृति-लब्ध अशो मे कोई विशेप वृद्धि नही कर पाते। इन्हे हम नैसर्गिक प्रेरणा अथवा चेतना कहते है और उसे असाधारण मानकर उसकी प्रशसा करते हैं। उसका अस्तित्व एव उद्भव मानव बोध की चर्चा के परे है। परन्तु

सकते हो तभी विचार धारा मे सम्भ्रम के आवर्त्र मे न गिरते हो तथा एक के स्थान पर दूसरे का भ्रम न करते हो—मानवो मे यह दुर्बलता न्यूनाधिक मात्रा मे व्यक्तिश पायी जाती है।

५ प्राय वह स्थिति जो कार्य की जननी है विजातीय तथा बाह्य स्थितियो से मिश्रित उपलब्ध होती है—ऐसी सम्मिश्र दशा मे विचारक को बहुधा बडी सावधानी एकाग्रता तथा सूक्ष्मदर्शिता को बरतना पडता है।

६. स्फुट घटनाओ के एकैकश निरीक्षण कर सामान्य नियम का निर्धारण करना एक बडी रोचक क्रिया है परन्तु इस निगमन प्रणाली मे—चाहे त्वरा के कारण अथवा मानसिक सकीर्णता के कारण द्रष्टा चतुरस्त्र निरीक्षण न कर किसी भी अश मे प्रमाद कर सकता है।

७ जहाँ हम उपमिति के आधार पर तर्क करने को उद्यत होते हैं तो वह तार्किक अधिक सफल होता है जिसे अनुभव तथा सौसादृश्य के परीक्षण मे पटुता अधिक हो।

८ शिक्षाकृत, रुचिजन्य अथवा दल भावना आदि से प्रेरित पूर्वाग्रह किसी मस्तिष्क पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशील होते हैं।

९ मानवीय साक्ष्य के बल आत्मविश्वास प्राप्त करने के पश्चात् ग्रन्थावलोकन तथा विशेषज्ञो के साथ सलाप एक व्यक्ति के अनुभव तथा विचार को दूसरे के अनुभव तथा विचार की अपेक्षा अधिक व्यापक बना देते हैं।

इस प्रकार और भी कई कारण देखे जा सकते हैं जो मानवो मे व्यक्तिश बोधगण तारतम्य के घटक होते हैं।

हमारा यह विस्मय अल्प हो जाय या न रहे यदि हम यह सोच लें कि हमारा प्रयोगसिद्ध तर्क जो पशु मे और मानव मे तुल्य है तथा जिस पर हमारे जीवन की यात्रा निर्भर रहती है—वास्तव मे नैसर्गिक चेतना का ही एक रूप है, वह यन्त्र जैसी शक्ति है जो अविज्ञातरूप हमारे मे अनुरूप काम करती रहती है और जिसका मुख्य व्यापार किसी भी वस्तुगत सम्बन्ध अथवा विचारो के सादृश्य से प्रेरित नही होते हैं जिस तरह हमारी बौद्धिक शक्ति मे अन्य साक्षात् विषय होते रहते है। यद्यपि यह चेतना भिन्न प्रकार की है, तथापि है वह चेतना ही जो हमे आग से बचने को कहती है जैसे वह किसी पक्षी को ठीक-ठीक तरह अण्डपोषण की कला, शिशु-पालन की विधि तथा सौरकर्म को सिखाती है।

¡ परिच्छेद

कौतुक

८६ डा० टिलोटसन के लेखो मे 'भौतिक सत्ता' के विरुद्ध इतना सक्षिप्त, सुन्दर एव बलवान तर्क उपस्थित किया गया है जैसा किसी भी सिद्धान्त को उन्मूलित करने के लिए प्रयुक्त हो सकता है। वास्तव मे यह सिद्धान्त इतना तुच्छ है कि वह किसी भी विचार से खण्डन की अपेक्षा नही रखता। उस विद्वान् लेखक का कथन है यह सिद्धान्त सर्व मान्य है कि रूढि अथवा शास्त्र की प्रामाणिकता केवल ऋषियो के वचन पर आधारित है, जिन्होने हमारे जगद्रक्षक विभु के अद्भुत् कर्म आँखो से देखे हैं जो उसके दैनिक उद्देश्य के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। अतएव हमारे ईसाई धर्म की यथार्थता के लिए प्रमाण हमारी इन्द्रियो की प्रामाणिकता की अपेक्षा न्यून है और हमारे धर्म के प्रतिष्ठापक महात्माओ के पास इससे अधिक बलवत्प्रमाण न था और यह भी मानना ही होगा कि क्रमश उसकी बलवती शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा में घटता ही रहा। साथ ही साथ यह एक निश्चित सत्य है कि कोई भी उस शब्द प्रमाण पर उतना विश्वास नही कर सकता जितना प्रत्यक्ष पर। तथापि एक अपेक्षाकृत दुर्बल प्रमाण भी बलवत्तर प्रमाण को अपार्थ नही कर सकता और इसलिए शास्त्रो मे यदि 'भौतिक सत्ता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दो मे किया भी हो तो भी इतने से आधार पर उसे मान्यता दे देना भी तो युक्तियुक्त तर्क के नियमो मे साक्षात् विरुद्ध ही है। यह तात्विक सत्तावाद का प्रत्यक्ष विरोधी है। और उसका मूल आधार शास्त्र अथवा रूढि निश्चय ही प्रत्यक्ष जैसा इतना प्रामाणिक नही जब तक वह केवल बाह्य साक्ष्यमात्र होकर प्रत्येक प्रमता के हृदय मे परमात्मा के साक्षात् व्यापार का अनुभव स्वत सिद्ध न हो जाय।

इस सम्बन्ध मे और कोई कथन उपयुक्त नही हो सकता सिवाय किसी निश्चयात्मक तर्क के जो कम से कम अत्यन्त हठवादी अन्ध परम्परा तथा अन्धविश्वास को निरुत्तर कर हमे उनकी अनुचित मान्यताओ के स्वीकार करने के अनुनय से मुक्त कर दे। यह कहते मुझे आत्मश्लाघा का अनुभव होता है कि मैंने ऐसे तर्क की उद्‌भावना की है जो सत्य सिद्ध होने पर प्रेक्षावान्, विद्वानो को सदा के लिए अन्ध विश्वास के चगुल से बचाये रखेगा और फलत प्रलयपर्यन्त सिद्ध होगा।

८७ यद्यपि मूर्त भौतिक द्रव्यो के विषय मे प्रस्तुत तर्क का आधार हमारा अनुभव मात्र ही होता तथापि यह तो मानना ही होगा कि यह आधार सर्वथा निभ्रात नही हो सकता तथा कही-कही हमे प्रमाद तथा भ्रम मे भी गिरा सकता है। हमारे देश के वातावरण मे रहने वाला कोई भी व्यक्ति जून मास के किसी भी सप्ताह मे दिसम्बर की अपेक्षा भले मौसम की ही उम्मीद करेगा और वह अनुभव केवल उचित एव अन्वयी तर्क ही कहा जायगा, तथापि यह सुनिश्चित है कि किसी समय उसका अनुमान गलत निकल जाय। इतना होते हुए भी हम देखते हैं कि वह अपने अनुभव के साथ कोई शिकायत नही कर सकता, कारण हमे ऐसे अनुभव की अनिश्चितता का सदा पूर्वाभास साधारणत रहता है और वस्तुस्थिति की विषमता को हम सावधान समीक्षण द्वारा समझ सकते हैं। गृहीत कारणो से सर्वदा सकल कार्यो की पश्चाद्‌भाविता नही पायी जाती—कुछ घटनाए सब देशो तथा युगो मे सदा एकानुगत पायी जाती हैं और कुछ परिवर्तनशील मिलती हैं तथा हमारी कल्पनाओ के विपरीत निकल पडती हैं। अतएव पदार्थ विषयक तर्क के सम्बन्ध मे निश्चितता समस्त कल्पित मात्रा मे उपस्थित रहती है—परमोच्च सम्भाव्यता से लगाकर आन्तरिक साक्ष्य के निम्नतम कोटि तक।

अतएव प्रज्ञाशील व्यक्ति अपनी धारणाओ को साक्ष्य के अनुपात मे रखता है। निर्भ्रान्त अनुभव के आधार पर स्थिर निगमनो मे वह प्रकल्पित घटना के निश्चय को चरम सीमा तक स्वीकृत कर सकता है तथा

अपने पूर्वानुभव को कार्यनिष्पति के होने मे अवाघ प्रमाण मान सकता है। इतर विषयो मे वह कुछ सावधानी से आगे वढता है, वह विरुद्ध पूर्वानुभवो का भी माप-तौल रखता है और यह सोचता है कि कौन-सा पलुवा पूर्वानुभवो की आवृति के कारण भारी है जिधर वह सकोच तथा सन्देह के साथ झुकता है और अन्तत जिधर वह निर्णय पर पहुँचता है वह भी केवल सम्भाव्यता की सीमा से परे नही लेता। तो फिर सकल सम्भाव्यता तो अनुदर्शन तथा प्रयोगो के समविषम निदर्शनो पर अवलम्बित रहता है। और जिधर पलुवा भारी हो उधर ही साक्ष्य का भार अपनी उत्कृष्टता के अनुपात मे प्रतिपक्ष से वलवत्तर सिद्ध होता है। किसी पक्ष के अनुकूल सौ निदर्शन अथवा प्रयोगफल हो और विपक्ष मे पचास तो वह किसी अनुगामी घटना की प्रत्याशा सशयात्मक बना देता है चाहे एक-सा परिणाम प्रकट करने वाले सौ प्रयोग एक विरोधी उदाहरण के रहते निश्चितता के अत्यन्त निकट प्रमाता को पहुचा सकते हैं। मर्वत्र यो तो हमे वलावल का विचार रखना चाहिए और किसी भी धारणा के वल की मात्रा जानने के लिए अधिक आवृत्ति वाले कार्य की सम्भाव्यता मे तत्प्रतिकूल निदर्शनो की सख्या का व्यतिकलन अवश्य कर लेना चाहिए।

८८. उपर्युक्त सिद्धान्तो का किसी दृष्टान्त पर समन्वय करना हो तो हम यह कहेगे कि तर्क का कोई भी प्रकार इतना सर्व-साधारण, इतना परमोपयोगी तथा मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक अन्य कोई नहीं है जितना कि वह तर्क, जो प्रत्यक्ष द्रष्टा पुरुषो की साक्ष्य पर आधारित होता है। सभवत इस प्रकार के तर्क को कार्यकारण भाव पर आधारित कोई न माने। मैं किसी भी शब्दविशेष पर विवाद नही करता। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस तरह के तर्क के अवाधित होने मे हमारा विश्वास मानव साक्ष्य की पारमार्थिकता तथा प्रत्यक्ष द्रष्टाओ के विवरण के अनुरूप वस्तुस्थिति की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त पर आधारित नही होता। जब यह एक सामान्य नियम है कि किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कोई दृष्ट सम्बन्ध है तथा वस्तु विषयक समस्त अनुमान उनके पारस्परिक सहयोग तथा नियमित सहवृति के सम्बन्ध मे

हमारे अनुभव मात्र पर आधारित होते हैं तो यह स्पष्ट है कि हमे इस नियम के अपवाद रूप मानवसाक्ष्य को मानना नही चाहिए जिसका सम्बन्ध भी अन्य किसी घटना से चाहे उतना ही स्वल्प क्यो न हो ? मानव की स्मृति कुछ सीमा तक चिरस्थायिनी नही होती—क्या मानव की प्रवृत्ति सत्य की ओर सहज नही होती—क्या तथ्यवाद कही नही होता—मिथ्या सिद्ध हो जाने पर क्या मानव को त्रया नही होती—यदि ये सब बातें अनुभव द्वारा जनित धर्म मे न होती तथा मानव प्रकृति मे सहज न पायी जाती तब तो अवश्य हमे मानव साक्ष्य मे तनिक भी विश्वास न रखना चाहिए। किसी उन्मत्त अथवा प्रमत, मिथ्यावादी अथवा खल पुरुष की बातो को हम प्रमाण किसी तरह नही मानते।

चूकि प्रत्यक्षदर्शन तथा मानवशब्द का प्रमाण्य हमारी पूर्वानुभूति पर ही निर्भर है, वह अनुभव के अनुरूप विभिन्न होता है तथा क्वचित् सिद्धरूप और क्वचित् सम्भाव्य रूप रहता है। अन्यतर रूप का होना, वस्तु कैसी है तथा तत्सम्बन्धी मानव साक्ष्य कैसा है और उसका रूप शाश्वत है अथवा परिवर्तनशील, इस पर ही अवलम्बित रहता है। इस प्रकार के निर्णयो पर विचार करते समय अनेक परिस्थितियो पर ध्यान देना आवश्यक होता है तथा समस्त विकल्पो का अन्तिम निर्णय अनुभव तथा निरीक्षण से ही फलित होता है। जहाँ यह अनुभव किसी एक पक्ष मे पूर्णरूप से एक-सा नही होता तथा हमारे निर्णयो मे अनिवार्य विविधता को उपस्थित करता तो अन्य किसी भी साक्ष्य की भाति वह भी तर्क का परस्पर विरोधी तथा बाधक सिद्ध होता है। हम प्राय दूसरो के विवरण अथवा साक्ष्य को स्वीकार करने मे सकोच करते हैं। सन्देह अथवा अनिश्चय को पैदा करने वाली परिस्थितियो का मापतोल करते है तथा जिधर पल्ला भारी देखते है उधर झुक जाते है तथापि हमारे विश्वास मे उतनी ही कमी रह जाती है जितना कि वल प्रतिवादी के तर्क मे पाया जाता है।

८९ प्रस्तुत प्रसग मे साक्ष्यगत विरोध विविध कारणो से उत्पन्न हो सकता है विरोधी विवरण की उपलब्धि से साक्षी की सख्या या स्वभाव

से साक्ष्य देते समय प्रकट किये हुए हाव-भाव से अथवा इन सब हेतुओ के साकल्य से। हमे किसी भी वस्तु के यथातथ्य मे सशयात्मक धारणा हो सकती है यदि साक्षिगण परस्पर विरोध प्रकट करते हैं, अथवा वे अत्यन्त अल्पसख्यक हो, अथवा अविश्वसनीय पात्र हो, अथवा वे अपनी उक्ति मे किसी स्वार्थ से प्रेरित हो अथवा साक्ष्य सकोश वश दे रहे हो अथवा अत्यन्त उग्र रूप से असमर्थन थवा प्रतिज्ञा कर रहे हो। इस प्रकार की अन्य कई बातें हो सकती हैं जो उस तर्क के बल को न्यून या नष्ट कर दें जो मानव साक्ष्य पर आधारित हैं।

उदाहरणार्थ, मान लो कोई वस्तु जो मानव साक्ष्य के द्वारा सिद्ध की जा रही हो अत्यन्त अलौकिक अथवा अद्भुत्-सी हो तो मानव साक्ष्य का मूल्य उस वस्तु की असाधारणता के अनुपात से न्यूनाधिक हो जायगा। इतिहासकारो तथा साक्षिगण पर भरोसा रखने का कारण यह नही कि उनकी साक्ष्य तथा तात्विकता मे कार्यकारण रूप कोई सम्बन्ध विशेष है अपितु हमारा वह अभ्यास है जिसने सदा पूर्वत उनमे एकरूपता पायी है। परन्तु जब वस्तु कोई ऐसी हो जो क्वचित् ही हमारे अनुभव मे आयी हो तब तो दो विरुद्ध अनुभवो मे द्वन्द्व उपस्थित होगा ही जो अपने-अपने बल के अनुसार एक दूसरे को बाधक सिद्ध होगा। और मानव मस्तिष्क पर वही क्रियाशील होगा जो बलवत्तर होगा। अनुभव का वही नियम जो अन्य वस्तु सम्बन्धी साक्ष्य के विषय मे भी होगा और परस्पर विरोध उपस्थित होने पर बलाबल से उनमे तारतम्य निश्चित होगा तथा उनका प्रामाण्य सिद्ध या बाधित होकर रहेगा।

"यदि केटो भी मुझसे स्वय आकर कहे तो भी मैं इस कथा को सत्य न मानूंगा।" यह रोम मे एक प्रचलित वाग्व्यवहार था, उस समय भी जब वह दार्शनिक देशभक्त (केटो) स्वय जीवित थे। अर्थात् वस्तुगत अलौकिकता के नाते उसका मानार्ह न होना इतने बडे आप्त के वाक्य की प्रमाणता को भी विध्वस्त कर सकता है—यह सर्वदा स्वीकृत है।

एक भारतीय नरेश ने तुषार के प्रभावो के सम्बन्ध मे विचार को अस्वीकृत कर विधिवत तर्क जब उपस्थित किया तो स्वाभाविक ही था

कि उसकी मान्यता प्राप्त कराने मे बलवत्तम प्रमाण की अपेक्षा हुई हो कारण वह महानुभाव प्रकृति के उस स्वरूप से अनभिज्ञ था जो उसके दैनिक अनुभवो से इतना विरूप प्रतीत होता था। यद्यपि जो बातें उससे कही जा रही थी वे उसके अनुभव के विपरीत न थी। परन्तु अनुरूप भी न थी।[1]

९०. मगर यह बात तो यह है कि साक्ष्य की प्रमाणता के विरुद्ध सम्भावना को अधिक प्रबल बनाने के हेतु हमे यह मानना होगा कि वह

---

१ वह सुविदित है कि किसी हिन्दुस्तानी को यह अनुभव नहीं कि पानी शीत देशों मे नहीं जमता। यह कहना प्रकृति का ऐसा निरूपण है जिससे वह परिचित नहीं और आपातत उसका परिणाम क्या होगा वह नहीं कह सकता। वह तो उसके लिए एक नया प्रयोग होगा जिसका फल सर्वदा अनिश्चित है। हाँ, सदृश वस्तुओ के अनुभव से वह अन्दाजा जरूर लगा सकता है कि ऐसी स्थिति मे परिणाम क्या होगा, परन्तु उसकी यह धारणा कल्पनामात्र ही होगी। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि पानी के बर्फ बनने की बात तो निश्चय सादृश्य के नियम के विरुद्ध होगी जो कि कोई मतिमान भारतीय सोचेगा भी नहीं। पानी पर शीत का प्रभाव क्रमिक नहीं होता और न वह शीत की मात्रा से ही प्रभावित होता है, परन्तु वह तो एक क्षण भर मे ही होता है, कारण जब जल हिम बिन्दु तक पहुँच जाता है तो वह एक ही क्षण मे अपने तरल स्वरूप को त्याग कर जडीभूत हो जाता है। यह स्थिति निश्चय असाधारण ही कही जा सकती है और उष्णदेश के निवासी को इस बात का विश्वास दिलाने के हेतु प्रबल प्रमाण की आवश्यकता होगी तथापि यह कोई अद्‌भुत् बात नहीं है और न यह किसी तरह वैसी स्थिति मे रहने वाले लोगो की सार्वजनीन प्रतीति के ही प्रतीत है। सुमात्रा के निवासी सदा ही जल को तरल ही देखते हैं और उनकी नदियों का हिमरूप हो जाना तो एक मिथ्योक्ति होगी तथापि शिशिर ऋतु मे उन्होने मुस्कोवी मे पानी बहता न पाया होगा। इसीलिए वे कदापि निश्चित रूप से यह कह नहीं सकते कब—कहाँ—कैसा परिणाम होगा।

से साक्ष्य देते समय प्रकट किये हुए हाव-भाव से अथवा इन सब हेतुओ के साकल्य से। हमे किसी भी वस्तु के यथातथ्य मे सशयात्मक धारणा हो सकती है यदि साक्षिगण परस्पर विरोध प्रकट करते हैं, अथवा वे अत्यन्त अल्पसख्यक हो, अथवा अविश्वसनीय पात्र हो, अथवा वे अपनी उक्ति मे किसी स्वार्थ से प्रेरित हो अथवा साक्ष्य सकोश वश दे रहे हो अथवा अत्यन्त उग्र रूप से असमर्थन थवा प्रतिज्ञा कर रहे हो। इस प्रकार की अन्य कई बातें हो सकती हैं जो उस तर्क के बल को न्यून या नष्ट कर दें जो मानव साक्ष्य पर आधारित है।

उदाहरणार्थ, मान लो कोई वस्तु जो मानव साक्ष्य के द्वारा सिद्ध की जा रही हो अत्यन्त अलौकिक अथवा अद्‌भुत्‌-सी हो तो मानव साक्ष्य का मूल्य उस वस्तु की असाधारणता के अनुपात से न्यूनाधिक हो जायगा। इतिहासकारो तथा साक्षिगण पर भरोसा रखने का कारण यह नही कि उनकी साक्ष्य तथा तात्विकता मे कार्यकारण रूप कोई सम्बन्ध विशेष है अपितु हमारा वह अभ्यास है जिसने सदा पूर्वत उनमे एकरूपता पायी है। परन्तु जब वस्तु कोई ऐसी हो जो क्वचित्‌ ही हमारे अनुभव मे आयी हो तब तो दो विरुद्ध अनुभवो मे द्वन्द्व उपस्थित होगा ही जो अपने-अपने बल के अनुसार एक दूसरे को बाधक सिद्ध होगा। और मानव मस्तिष्क पर वही क्रियाशील होगा जो बलवत्तर होगा। अनुभव का वही नियम जो अन्य वस्तु सम्बन्धी साक्ष्य के विषय मे भी होगा और परस्पर विरोध उपस्थित होने पर बलाबल से उनमे तारतम्य निश्चित होगा तथा उनका प्रामाण्य सिद्ध या बाधित होकर रहेगा।

"यदि केटो भी मुझसे स्वय आकर कहे तो भी मैं इस कथा को सत्य न मानूंगा।" यह रोम मे एक प्रचलित वाग्व्यवहार था, उस समय भी जब वह दार्शनिक देशभक्त (केटो) स्वय जीवित थे। अर्थात्‌ वस्तुगत अलौकिकता के नाते उसका मानार्ह न होना इतने बडे आप्त के वाक्य की प्रमाणता को भी विध्वस्त कर सकता है—यह सर्वदा स्वीकृत है।

एक भारतीय नरेश ने तुषार के प्रभावो के सम्बन्ध मे विचार को अस्वीकृत कर विधिवत तर्क जब उपस्थित किया तो स्वाभाविक ही था

कि उसकी मान्यता प्राप्त कराने मे बलवत्तम प्रमाण की अपेक्षा हुई हो कारण वह महानुभाव प्रकृति के उस स्वरूप से अनभिज्ञ था जो उसके दैनिक अनुभवो से इतना विरूप प्रतीत होता था। यद्यपि जो बातें उससे कही जा रही थी वे उसके अनुभव के विपरीत न थी। परन्तु अनुरूप भी न थी।[1]

९०. मगर यह बात तो यह है कि साक्ष्य की प्रमाणता के विरुद्ध सम्भावना को अधिक प्रबल बनाने के हेतु हमे यह मानना होगा कि वह

---

१. वह सुविदित है कि किसी हिन्दुस्तानी को यह अनुभव नहीं कि पानी शीत देशो मे नहीं जमता। यह कहना प्रकृति का ऐसा निरूपण है जिससे वह परिचित नहीं और आपातत उसका परिणाम क्या होगा वह नहीं कह सकता। वह तो उसके लिए एक नया प्रयोग होगा जिसका फल सर्वदा अनिश्चित है। हाँ, सदृश वस्तुओ के अनुभव से वह अन्दाजा जरूर लगा सकता है कि ऐसी स्थिति मे परिणाम क्या होगा, परन्तु उसको यह धारणा कल्पनामात्र ही होगी। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि पानी के वर्फ बनने की बात तो निश्चय सादृश्य के नियम के विरुद्ध होगी जो कि कोई मतिमान भारतीय सोचेगा भी नहीं। पानी पर शीत का प्रभाव क्रमिक नहीं होता और न वह शीत की मात्रा से ही प्रभावित होता है, परन्तु वह तो एक क्षण भर मे ही होता है, कारण जब जल हिम बिन्दु तक पहुँच जाता है तो वह एक ही क्षण मे अपने तरल स्वरूप को त्याग कर जडीभूत हो जाता है। यह स्थिति निश्चय असाधारण ही कही जा सकती है और उष्णदेश के निवासी को इस बात का विश्वास दिलाने के हेतु प्रबल प्रमाण की आवश्यकता होगी तथापि यह कोई अद्भुत् बात नहीं है और न यह किसी तरह वैसी स्थिति मे रहने वाले लोगो की सार्वजनीन प्रतीति के ही प्रतीत है। सुमात्रा के निवासी सदा ही जल को तरल ही देखते हैं और उनकी नदियो का हिमरूप हो जाना तो एक मिथ्योक्ति होगी तथापि शिशिर ऋतु मे उन्होंने मुस्कोवी मे पानी बहता न पाया होगा। इसीलिए वे कदापि निश्चित रूप से यह कह नहीं सकते कब—कहाँ—कैसा परिणाम होगा।

वस्तु जिसे वे दृढता के साथ उपस्थित करते हैं वह न केवल विस्मयकारी ही है अपितु अद्भुत् एव अविदित है, और साथ ही यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तुत साक्ष्य को स्वतन्त्र रूप से अथवा तटस्थ भाव मे देखा जाय तो वह स्वय ही प्रमाण बन जायगा और यो प्रमिति के विरुद्ध प्रमिति का सामना करना होगा और उनमें मे दृढतम प्रमिति ही मानी जायगी तथापि प्रत्येक प्रमिति विद्रुतीय प्रमिति के प्रबलता के अनुपात मे ही अपनी क्षीणता प्रकट करेगी।

प्रकृति के नियमो का भग होना ही अद्भुत् का रहस्य है। परन्तु प्रकृति के नियम दृढ़ एव ध्रुव सत्यानुभव पर ही आधारित हैं, अतएव अद्भुत् के विरुद्ध प्रमाण को वास्तव मे उतना ही पूर्णरूप होना चाहिये जितना कि अनुभव पर आधारित तर्क सम्भवत पूर्ण माना जाता है। क्यो कर ऐसी बातें केवल सभावना से कही अधिक मानी जाती हैं—जैसे सब मानव मर्त्य हैं, सीसा हवा मे स्वय स्थित नही रहता, अग्नि काष्ठ को जला देती है, अथवा जल से बुझ जाती है। यह कदापि न होता यदि ये सब बातें प्रकृति के नियमो के अनुसार होने वाली न होती। यही कारण है कि उक्त वस्तुओ के अन्यथा होने मे इन प्राकृतिक नियमो का भग होना आवश्यक हो जाता है या यो कहो कि किसी भी अद्भुत के बिना वैसा हो नही सकता। कोई भी बात कभी भी अदभुत नही कही जाती जब तक वह प्रकृति के सामान्य निसर्ग के अनुरूप होती रहे। ऊपर स्वस्थ दीखने वाले पुरुप की अचानक मृत्यु हो जाना कोई अदभुत घटना नहीं कही जाती, कारण, जो यद्यपि वह सामान्य मृत्युओ की अपेक्षा अवश्य असाधारण है तथापि ऐसी अचानक मृत्यु के निदर्शन बहुधा दृष्टिगोचर होते ही रहते हैं। परन्तु यह अवश्य अद्भुत समझा जायगा यदि मृत पुरुप पुनर्जीवित हो जाय कारण ऐसी घटना किसी भी देश अथवा युग मे होती नही पायी गयी। अतएव यह मानना होगा कि हर अद्भुत् के विपय मे एक-सा अनुभव होना आवश्यक है, अन्यथा उस घटना की अदभुतता ही चरितार्थ न होगी। और चूकि एक-सा अनुभव प्रमाण का तुल्य होता है, वस्तु स्वरूप के आधार पर निर्धारित यही साक्षात् एव पूर्ण प्रमाण है जो कि अद्भुत की सत्ता के विरुद्ध है। ऐसा यह प्रमाण नष्ट

भी नही किया जा सकता और अद्‌भुत को असत्य भी नही बताया जा सकता, जब तक उससे अधिक बलवान्[1] प्रमाण विरोध मे उपस्थित न किया जाय।

१ कभी-कभी ऐसा अवश्य पाया जाता है कि कोई घटना वास्तव मे प्राकृतिक नियम के विरुद्ध न दीख पडे, और फिर भी यदि वह यथार्थ हो तो वस्तुस्थिति के आधार पर अद्‌भुत् कही जा सकती है क्योकि वह प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध दीखती जरूर है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति दैवी शक्ति से सम्पन्न है यह घोषित करने पर किसी बीमार को वचन मात्र से स्वस्थ कर देता हो, किसी स्वस्थ को रुग्ण बना देता हो, अथवा अचानक मेघों से धारासम्पात वर्षा करा देता हो, पवन को आँधी की तरह बहा देता हो अथवा इसी तरह प्रकृति पर अधिकार जमाये दिखाई देता हो इन सब घटनाओ को अद्‌भुत् तो कहना ही होगा, कारण वास्तव मे ऐसी घटनाए प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध हैं। यदि वहाँ तनिक भी यह आशका हो कि उस व्यक्ति का कहना और घटना का होना काकतालीय न्याय से हुआ तो वहाँ फिर अद्‌भुतता रह नहीं जाती, कारण उसमे तो कहीं प्राकृतिक नियमो का अतिक्रमण हुआ ही नहीं। और यदि ऐसी कोई आशका न रहे तो अवश्य ही यह घटना अद्‌भुत् है और वहाँ प्राकृतिक नियम का अतिचार है, कारण इससे अधिक और क्या प्रकृति विरुद्ध हो सकता है कि ऐसी ऐसी घटनाए किसी भी व्यक्ति की उक्तिमात्र से होने लगे। अतएव 'अद्‌भुत्' की सही-सही परिभाषा यह बनायी जा सकती है—प्राकृतिक नियमो का वह अतिचार ही अद्‌भुत् कहा जाता है जो किसी दैवी इच्छा विशेष अथवा अदृष्ट कर्म के व्यापार के फलस्वरूप होता है। अद्‌भुत् का बोध मानव को हो या न हो—इससे उसके स्वरूप तथा तात्त्विकता मे अन्तर नहीं आता। हवा मे किला या जहाज को खडा करना एक प्रत्यक्ष अद्‌भुत् है। उसी तरह पख का आकाश मे उडना भी उतना ही अद्‌भुत् है यद्यपि उसका बोध हमे उतना सुस्पष्ट नहीं होता कारण पख को ऊपर उठाये रखने के लिए पवन की इतनी न्यूनतमशक्ति की अपेक्षा होती है।

९१ अतएव निम्नलिखित निर्णय स्पष्ट है जो ध्यान देने योग्य सामान्य सिद्धान्त है –

अद्‌भुत् को प्रमाणित करने के लिए कोई भी साक्ष्य पर्याप्त नही कहा जा सकता जब तक वह साक्ष्य ऐसा न हो कि उसकी अयथार्थता यथार्थता की अपेक्षा अधिक विस्मयावह न हो और तब भी अनुकूल और प्रतिकूल तर्को का परस्पर बोध हो कि अनुकूल तर्क समुचित दृढता एव बल के साथ प्रतिकूल को उन्मूलित कर हमे अपनी सत्यता का विश्वास दिला देने मे समर्थ हो। कारण, जब मुझे यह कोई कहे कि मैंने एक मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित होते देखा तो मैं तुरन्त यही सोचने लगता हूँ कि वह सम्भव मुझे धोखा दे रहा है या स्वय ही धोखा खा चुका है अथवा जो वह कह रहा वास्तव मे हुआ हो। मैं एक अद्‌भुत् को दूसरे के साथ तोलता हूँ और जिसमे मुझे अधिक बल मिलता है उसे स्वीकार कर अपना निर्णय देता हूँ और सदा अधिक विस्मयकारी वस्तु को स्वीकृत कर देना हूँ। वक्ता द्वारा कथित वस्तु की अपेक्षा उसका मिथ्यात्व कही अधिक अद्‌भुत लगता हो, तब तो वह तभी मेरे विश्वास तथा एकमत्य को प्राप्त करने का दम्भ कर सकता है।

दूसरा भाग

९२. पूर्वभाग मे प्रस्तुतवाद मे हम यह मानकर चले हैं कि अद्‌भुत् का आधारभूत प्रमाण सम्भवत उसकी सत्ता को पूर्णतया सिद्ध कर देने वाला हो और साथ ही साथ यह भी मान लिया कि ऐसे साधक प्रमाण का मिथ्यात्व तो सचमुच विस्मयकारी होगा तथापि यह बताना सरल होगा कि ऐसी मान्यता कितनी उदार है क्योकि कोई भी अद्‌भुत् कदापि ऐसे अबाधित प्रमाण द्वारा साधित नही पाया जाता—इसके कारण अनेक हैं —

प्रथम—समग्र मानव इतिहास मे एक भी अद्‌भुत् ऐसा नही पाया जाता जिसके साक्षी पर्याप्त सख्या मे ऐसे लोग हो—जो निर्विवाद सुबुद्धि शिक्षा एव विद्याभ्यास के कारण हमे स्वय मिथ्याप्रतीति के खतरे से

सुरक्षित रख सकें, जो निस्सन्देह इतने प्रामाणिक हो कि वे दूसरो को कभी वचित करने का व्यूह रच सकने की आशका से परे हो, जो जनता की दृष्टि मे इतने विश्वसनीय एव सम्मानित हो कि उनकी मिथ्या भाषिता प्रकट होने पर उन्हे भीषण क्षति होने का भय हो और साथ ही साथ जो अपने साक्ष्य को ससार के किसी सुप्रसिद्ध स्थान पर जनसामान्य के समक्ष इतने प्रकट रूप से देते हो कि मिथ्यात्व का उद्घाटन हुए बिना रह न सकता हो—ये सब बातें मानव साक्ष्य के सम्बन्ध मे परम आवश्यक है यदि वह साक्ष्य हमे पूर्णरूप से विश्वास दिलाना चाहता हो।

द्वितीय—यदि सूक्ष्म आलोचना की जाय तो हमे मानव निसग मे एक ऐसा तत्व दीख पडता है जो हमारे विश्वास को किसी भी अद्भुत् की सत्ता के सम्बन्ध मे सदा क्षीण करता रहता है। किसी भी तर्क मे प्रवेश करते हुए हम एक सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं और वह यह है कि अनुभूत वस्तु प्राय अनुभूत पदार्थों के साथ साम्य रखती हुई प्रतीत होती हैं और जिसे हमने अधिकतर होते पाया है वही सर्वाधिक सम्भावित ही मानी जाती है और जहाँ कही विरोधी तर्क सामने उठ खडे होते हो तो हम उसी पक्ष को अधिक मान्यता देते है जो हमारे अधिकतर पूर्वानुभूतियो पर आधारित होता है।

तथापि—हम उक्त सिद्धान्त पर चलते हुए किसी भी अनहोनी, अविश्वास्य घटना की सत्ता को तुरन्त अस्वीकृत कर देते हैं, परन्तु आगे चलकर मस्तिष्क इसी सिद्धान्त का सदा अनुसरण करता हुआ मालूम नही पडता और जब कोई भी बात अत्यन्त अद्भुत् तथा तर्क से अप्रतिष्ठित कह बैठता है और दृढता के साथ उसकी सचाई पर बल देता रहता है तो हमारा मस्तिष्क ठीक उन्ही आधार पर उसे स्वीकृत कर लेता है जो वास्तव मे उसकी अप्रामाणिकता के साधन होने चाहिए। विस्मय अथवा चमत्कार की भावना जो अद्भुत् से जनित होती है वास्तव मे मनोहर भाव हैं जो उस धारणा मे विश्वास उत्पन्न करते और चेतना को जागृत करते है और यह भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि तत्काल इसका आनन्द न ले सकने वाले व्यक्ति भी वैसी सुनी हुई अद्भूत् वस्तु या घटना मे

विश्वास न रखते हुए भी परम्परागत अथवा प्रतिक्रिया जनित सन्तोष मे सविभागी बनना पसन्द करते है तथा इतर जनो की प्रशसा को उद्दीपित करने मे गर्व एव आह्लाद का अनुभव करते है। किस लालसा के साथ हम यात्रियो के अद्भुत् अनुभवो को सुनते है, उनके द्वारा दिये हुए समुद्र और भू पर व्याप्त भूत-प्रेतो के विवरणो तथा उनके चमत्कृत कर देने वाले साहसो और विचित्र मानवो और उनके अजीव रहन-सहन की कथाओ को किस उत्कण्ठा के साथ हम श्रवण करते हैं और यदि चमत्कार-प्रेम के साथ-साथ धार्मिक भाव भी जोड दिया जाय तो फिर तो बुद्धि सामान्य की इतिश्री हो ही जाती है और ऐसी अवस्था मे मानवसाक्ष्य तो प्रामाणिकता के दम्भ के कोसो दूर हट जाता है। एक धर्मवादी कही उत्साही प्रचारक होकर ऐसी भी बातें देखने लगता है जिनमे कोई भी तथ्य न हो, वह स्वय भी जानता हो कि जिसका विवरण वह दे रहा है बिलकुल मिथ्या है और फिर भी वह दुनिया भर की सभी भावनाओ के साथ उसी विवरण को देने मे धीरता के साथ अग्रसर होता तो क्योकि वह मानता है कि ऐसा करने से वह किसी पवित्र लक्ष्य की साधना कर रहा है। अथवा कही इस मिथ्याप्रतीति स्थान न पाकर भी उसके हृदय मे कही ऐसा मिथ्या गर्व छा गया हो जो उसे ऐसा प्रलोभित कर रहा हो जैसा और किसी को वैसी ही स्थिति मे करने मे असमर्थ हो। इसी भावना के साथ कही स्वार्थ सिद्धि के भाव भी बराबरी का बल लिये हो उसे प्रोत्साहित करते हो। उसके श्रोतागण मे कही उतनी क्षमता स्वय निर्णय करने की न हो जो उसकी साक्ष्य को आच्छादित कर दे अथवा अपनी निर्णयात्मिका बुद्धि को इतने गम्भीर एव उदात्त विषय मे लगाना पसन्द ही न करते हो, अथवा वे अपनी बुद्धि को लगाने के लिए इच्छुक भी हो जायँ तो भी कही ऐसा भी हो सकता है कि वक्ता अथवा श्रोता के प्रबल मनोभाव तथा कल्पना शक्ति अपनी बुद्धि की व्यवस्थित क्रिया को अस्त-व्यस्त कर दें। उनका भोलापन अथवा आशुग्राहिता वक्ता के वैयात्य को बढावा देता है और उसका वह वैयात्य श्रोताओ की आशुग्राहिता पर अपना अधिकार जमा लेता है।

वक्तृत्व जब अपने सर्वोच्च स्वस्थ होती है तो वह श्रोताओ की

बुद्धि तथा विमर्श के लिए कोई अवकाश नही देती, परन्तु अपने प्रभाव, अपनी कल्पना की क्षमता से अनुरक्त श्रोताओ को आकृष्ट कर उनके विवेक को परास्त कर देती है। भाग्य की बात है वक्तृत्व का ऐसा उत्कट प्रवाह कभी-कभी ही पाया जाता है। परन्तु जो प्रभाव टुली अथवा डि डिमोस्थनीज अपने रोमन अथवा ग्रीक श्रोताओ पर क्वचित् डाल सके वह हर कैपूशिन अथवा भ्रमणशील उपदेशक अथवा स्थानीय अध्यापक जन सामान्य पर प्रभाव डालने मे समर्थ हो जाता है और विशेष कर तब और भी अधिक जब वह श्रोताओ के स्थूल तथा ग्राम्य भावो को उत्तेजित करने लगता है।

कल्पित आश्चर्य, भवियोक्ति अथवा अन्य कई प्रकार की अतिमानुष घटनाओ के कई ऐसे निदर्शन हर युग मे देखे गये हैं जिनका मिथ्यात्व विरोधी साक्ष्य पाकर अथवा स्वगत अनौचित्य के कारण स्वय प्रकट हो गया जिससे यह भी स्फुट हुआ कि मानव का अन्त करण प्राय ऐसी विस्मयावह वस्तुओ के प्रति सदा सशक बना रहता है। यही प्राय हमारा विचारक्रम प्रतीत होता है जो सर्वसाधारण तथा विश्वासी विषयो मे भी अपना स्थान स्वतत्र रखता है—उदाहरणार्थ, ऐसी कोई भी सूचना अथवा विवरण नही है जो जन सामान्य मे, खासकर ग्रामीण वर्ग मे इतनी तेजी के साथ तथा सर्वत्र फैल जाती हो जितनी कि एक वैवाहिक घटना—यहाँ तक कि चाहे दो समवयस्क तथा सम अवस्था के व्यक्ति परस्पर दो वार भी नही मिले हो परन्तु सारे पडोसी उन दोनो को तुरन्त ही एक सम्बन्ध मे जोड देते हैं। किसी भी रोचक समाचार को देने का आनन्द, उसके प्रसार मे अभिरुचि तथा सूचना देने मे अहमहमिका तुरन्त ही ऐसे समाचार को सवत्र फैला देती है। और इस नैसर्गिक प्रवृत्ति से जनता इतनी परिचित है कि ऐसी किवदन्ति पर तब तक कोई भी समझदार व्यक्ति विश्वास नही करता जब तक उसकी सत्यता अन्तत भी प्रमाणित नही हो जाती। तो फिर क्या यही भावनाएँ अथवा इनसे भी तीव्र भावनाएँ मानव को धार्मिक आश्चर्यो को प्रसारित करने मे तथा उन पर विश्वास करने मे अधिक दृढता के साथ उत्तेजित नही करती ?

९४ तीसरी बात— अतिप्राकृतिक तथा विस्मयकारी सम्बन्धो के

विरुद्ध पूर्वगत होने का एक दृढतर कारण यह भी होता है कि उनकी मान्यता अधिकाश मूढ एव असभ्य वर्ग मे अधिक पायी जाती है। यदि उनका प्रसार सुसभ्य वर्ग मे कही हो गया हो, तो भी यह देखा गया है कि उनका उद्गम प्राय अपठित तथा अपरिष्कृत उनके पूर्वजो द्वारा ही विचार रूढि के रूप मे उन्हें प्राप्त हुए है और जिन्हे उन पूर्वजो ने अकाट्य प्रामाणिकता का आधार दे दिया है। यदि हम समस्त मानव जातियो के प्राचीन इतिहास को देखें तो एक बार हम भी एक नयी दुनिया मे जा पहुँचते है जहाँ निसर्ग का स्वरूप जर्जर-सा पाया जाता है और जहाँ हर भौतिक तत्व किसी अजनबी तरीके से ही अपना परिणाम दिखाता रहता है। युद्ध, विद्रोह, उपद्रव, दुर्भिक्ष तथा अपमृत्यु कदापि उन निमितो से प्रादुर्भूत होते नही दीखते जिनका अनुभव हम आजकल करते पाये जाते हैं। शकुन, दिव्यवाणी, तथा आदिदैविक निर्णय सदा ही प्राकृतिक घटना क्रम को भुलाये देते हैं। परतु ज्यो-ज्यो हम अधिक अभिज्ञ युग मे घुमते हैं त्यो-त्यो हमे प्रकट होता है कि वहाँ न कोई अतिप्राकृतिक सम्बन्ध है और न कोई गूढ। वास्तव मे उनके पीछे केवल एक ही वस्तु है कि मानव की अद्भुत् और साहसिक रुचि, जो समय-समय पर शिक्षा तथा बुद्धि द्वारा प्रतिरोध पाने पर भी मानव हृदय पटल से अपास्त नही हो पाती। कोई भी विवेकी पाठक ऐसी चमत्कारी घटनाओं का विवरण पढकर यही कहेगा कि 'यह एक अद्भुत् बात है कि ऐसी विचित्र घटनाए हमारे युग मे नही होती हैं।' परन्तु वास्तव मे यह कोई अजनबी बात नही —मैं समझता हू कि मानव हर युग मे झूठ कह सकता है। तुमने मानव की इस दुर्बलता के कई निदर्शन पाये होगे। तुमने स्वय भी ऐसी विचित्र घटनाओ के विवरण सुने होगे जिन्हे सभी समझदार विवेकशील पुरुषो ने परिहेय माने और अन्तत जिन्हें ग्रामीण प्राकृतजन ने भी आगे चलकर अस्वीकृत कर दिया। सच मानिये—ये प्रचलित झूठ जो भी इतना प्रसार पा चुके सभी इसी तरह चल पडे थे परन्तु जब उन्हें समुचित धरातल प्राप्त हुआ तब वे स्वय भी उसी तरह अकुरित हुए जैसी वे घटनाए जिनका विवरण वे झूठी-झूठी बातें किया करती हैं।

उस दाम्भिक पैगम्बर अलेक्जण्डर की यह एक चतुर नीति थी कि

उसने अपने ढोग को सबसे पहिले पेफ्लोगोनिया मे रचा जहाँ लूशियन के कथनानुसार सब ही लोग महामूढ तथा वज्रमूर्ख थे,जो किसी भी गप्प को सही मान लेते थे। कारण, दूर की जनता सदा उन बातो को सत्य मान लेती है जिन्हें विचारणीय वस्तुओ के सम्बन्ध मे भी कोई नयी बात जानने के तथा सचाई को परखने के साधन उपलब्ध नही होते। उनके पास तो कथाए उडती-उडती सौ गुने विचित्र रूप को धारण करती हुई पहुचती हैं। और मूर्ख लोग सदा ही ढोग की बातो की जड जमाने मे प्रयत्नशील रहते हैं जब कि विवेकी उन्ही सब बातो को निर्मूल तथा अज्ञानमूलक सिद्ध करने मे ही सन्तुष्ट रहते हैं और वे कभी भी उन परिस्थितियो से परिचित भी होना नही चाहते जो इन झूठी बातो की अवास्तविकता को प्रमाणित कर दें। इसी तरह ऊपर बताये हुए ढोगी ने अपने अनुयायी वर्ग की सख्या बढाते-बढाते पेफ्लोगोनिया से आगे बढकर इतना ही नही कई ग्रीक दार्शनिको को ही अपने वर्ग मे सम्मिलित कर लिया हो, वरन् उसने मार्कस आरिलस जैसे सम्राट् का भी ध्यान अपनी ओर खीचा है—यहाँ तक कि अपनी झूठी भविष्यवाणी के द्वारा उसने सम्राट् को किसी सैनिक अभियान की सफलता मे भी विश्वास करवा दिया।

अज्ञ जनता मे ढोग फैलाने के लाभ इतने अधिक है कि वे दम्भ क्यो न इतने स्थूल हो कि वे सकल जनसमुदाय पर भले अपनी छाप बैठाने मे असमर्थ हो। जो भी, ऐसा भी क्वचित् ही होता है। तथापि दूरवर्ती प्रदेशो मे तो वे सफलता पूर्वक चल ही पडते हैं—शायद किसी ऐसे नगर में जहाँ कला और ज्ञान का प्रसार अधिक हो वहाँ इन ढोगो का प्रथम दर्शन कही इतना सफल न हो सके। अतिमूढ जन ही सबसे पहिले ऐसी ढोगी चमत्कारो की कहानियो को दूर-दूर तक ले जाते हैं, कारण वे अपने समाज के लोगो मे प्रतिवाद करने की क्षमता ही नही पाते चूकि न उनके पास सवाद पाने का अवसर है और न इतनी सत्ता कि वे किसी तरह प्रतिवाद कर सकें। अद्‌भुत की ओर मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति सदा ही अपने प्रसार के लिए अवसर देखती ही रहती है। और इसीलिए कोई भी चर्चा जो किसी भी स्थान पर सर्वमान्य बन जाती हो अवश्य ही हजारों

कोस तक फैलती जाती है। सिकन्दर यदि अपना निवास एथेन्स मे रखता तो तुरन्त ही सारे रोमन साम्राज्य मे वहाँ की बुद्धिमती जनता उसके दम्भो के सम्बन्ध मे अपने अभिप्राय को प्रसारित कर देती और उनकी तर्क तथा वादविवाद की शक्ति सहज ही जनता की आँख खोल देती। यह सच है, कारण सयोगवश पेफ्लोगोनिया से गुजरते हुए लूशियन ऐसे लोकोपकारी काम करने का अवसर पा गया। तथापि चाहे कितना ही यह वाछनीय क्यो न हो—हर अलेक्जेण्डर को लूशियन नही मिलता जो दाम्भिक की मिथ्या सस्तुतियो की वास्तविकता पर प्रकाश डाल दे।

९४ और एक मैं चौथा कारण भी बताता हूँ जो अद्भुत् की प्रामाणिकता का वेडा गर्क कर दे। वह यह है—किसी भी अद्भुत् के लिए कही प्रमाण नही मिलता—वैसे अद्भुत् के लिए भी नही जिसकी पहिचान स्पष्टत न हो पायी हो अथवा जिसका विरोध असख्य दर्शको द्वारा न किया गया हो। इस युक्ति को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यह सोचें कि धर्म के मामले मे जो भी कुछ भिन्न हो तो वह विरुद्ध समझा जाता है—और प्राचीन रोम, तुर्क, स्याम, चीन आदि सब के धर्म किसी ठोस आधार पर सिद्ध किये गये हो। तो फिर कोई भी अद्भुत् जो इनमे से किसी भी धर्म के द्वारा प्रस्तुत किया गया हो। जैसा हर धर्म मे प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। साक्षाद्रूप से अपनी-अपनी मान्यता एव दर्शन को सिद्ध करने का लक्ष्य रखते है। जिसका परिणाम यह होगा कि हर धर्म दूसरे को उखाड फेंकने का सामर्थ्य अवश्य रखेगा ही। किसी भी विपक्षी सिद्धान्त को खण्डित करने की चेष्टा मे वह उन अद्भुत् मान्यताओ को भी उन्मूलित कर देगा जिस पर उनका सारा सिद्धान्त आधारित है। फल यह होगा कि प्रत्येक विभिन्न धर्मो की अद्भुत् मान्यताए परस्पर विरुद्ध मानी जायँगी और उनका साक्ष्य चाहे सबल हो अथवा दुर्बल—एक दूसरे की खण्डन करती रहेगी। इस तार्किक प्रणाली के अनुसार तो जब हम मोहम्मद या उनके वशज के सम्बन्ध किसी अद्भुत् चरित मे विश्वास करने जाँय तो हमे कुछ बर्बर अरबीयो के शब्दो को प्रमाण मानना होगा, दूसरे पक्ष में हमे टिटसलिहियस, टेसिरस आदि को भी प्रमाण मानना

ही होगा और इस तरह ग्रीस के, चीन के अथवा रोमन कैथलिक के सभी लेखक अथवा विचारको को प्रमाण मानना पडेगा जिन-जिनने उस उस धर्म विशेष मे जो अद्भुत कहा-सुना होगा—कहने का तात्पय है कि उन विचारको को उतना ही प्रमाण मानना होगा जितना कि मोहम्मद से अद्भुत् को, साथ ही साथ उसका खण्डन भी उतने ही प्रवल प्रमाण से किया जा सकता है जितना कि किसी भी अद्भुत् वणन को। हमारा यह तर्क कुछ सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी क्यो न प्रतीत हो—परन्तु वास्तव मे यह किसी भी न्यायाधीश के तर्क से भिन्न नही है जहा किसी भी अपराध को सिद्ध करने वाले दो गवाहदारो की शाहदत दूसरे दो गवाहो के कथन से छिन्न-भिन्न हो जाती है जो यह कहे कि आरोपी अपराध के उक्त स्थान से २०० मील कही दूर था। लौकिक ऐतिह्य मे सबसे अधिक प्रमाणित अद्भुत् की एक कथा है जो व्हेस्पेसियन के विषय मे टेसिटस द्वारा कथित है। कहा जाता है कि 'व्हेस्पेसियन ने अलेक्जेड्रिया के किसी अन्धे को अपने को थूक से दुरुस्त कर दिया था और एक लगडे को अपनी लात से अच्छा कर दिया था। इस सम्बन्ध मे सेरपिसदेव ने स्वप्न दिया था कि वे बीमार सम्राट् के पास इस अद्भुत उपचार के लिए शरण लें।' इस सन्दभ का उल्लेख उस भव्य इतिहासकार ने किया है। इस कहानी मे हर परिस्थिति प्रमाण को दृढ करने वाली है और तर्क तथा वाग्विभव के सम्पूर्ण बल के साथ वह पुरस्कृत है यदि कोई मूर्तिवादी इस अन्ध विश्वास को प्रमाण द्वारा पुष्ट करना चाहता हो। इतने सुप्रतिष्ठित महान सम्राट् की गम्भीरता, दृढता, आयु एव अप्तता इतनी अधिक है कि उसने सारे जीवन अपने मित्रो तथा सभासदो के साथ परम मैत्री के साथ व्यवहार किया तथा अनौपचारिक वार्तालाप किया और कभी भी एलेक्जेण्डर और डिमेट्रियस की भाति देवस्वरूप होने का दम्भ नही किया। उक्त सम्राट् का समसामयिक वह इतिहासकार भी अपनी सत्यवादिता तथा स्पष्टोक्ति के लिए सुविख्यात है और साथ ही साथ उस युग का माना हुआ सर्वोत्तम प्रतिभाशाली एव सूक्ष्मदर्शी विद्वान् है। आशुग्राहिता से वह इतना दूर है कि जनता सदा उस पर नास्तिकता एव अधर्मिष्ठता का आरोप लगाती रही। जिन लोगो की उक्ति के आधार पर उसने अपने इतिहास मे इस

अद्भुत कथा का वर्णन किया है वे भी अपनी तथ्यवादिता एव निर्णयात्मक बुद्धि के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त हैं और हम यह भी मान सकते हैं कि सम्भवत उन्होने उक्त घटना का स्वय साक्षात्कार भी किया हो। इस अद्भुत कहानी की सत्यता को उन्होने तव भी प्रमाणित किया जव कि श्री फ्लेविन को मिथ्या भाषण के अपराध पर सपरिवार राज्य से निर्वासिन कर दिया गया था। "यदि किसी ने भी सत्य मे हेर-फेर की, अथवा स्मरण मे भी कुछ और वताया तो पश्चात् कुछ भी कहना उसे अन्यथा लाने को समर्थ न होगा।" और यदि हम वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त कथानक मे जनता की प्रकृति का भी सहारा जोड दें तो यह स्पष्ट है कि इतनी वडी मे सुस्पष्ट झूठ के लिए सत्यता को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य इससे अधिक प्रवल कही उपलव्ध नही हो सकता।

इसी प्रकार रेट्ज के कार्डिनल के द्वारा कथित एक और उल्लेखनीय कहानी है जिस पर भी हम कुछ विचार कर लें—जव वह कपटपटु कूटनीतिज्ञ अपने शत्रु से वचकर स्पेन को भागा तो वह अरेगाँव की राजधानी सारागोसा से गुजरा। वहाँ एक गिरजाघर मे उसकी किसी आदमी से भेंट हुई जो वहाँ सात साल से द्वारपाल का काम करता था और जिसे वहाँ आराधना करने के लिए एक वार आया हुआ भक्त भी जानता था। जमाने भर से वह एक पैर विना ही देखा गया था परन्तु वह अपने ठूठे पैर पर एक पवित्र तैल की मालिश करने से अच्छा हो गया था और कार्डिनल महोदय हमे विश्वास दिलाते हैं कि उन्होने स्वय उसे दो पैर वाला देखा था। यह अद्भुत् घटना उस गिरिजाघर के सव अधिकारियों द्वारा सत्य वतायी जाती है, नगर निवासी सकल जनता को उक्त घटना की सत्यता प्रमाणित करने को जव कार्डिनल ने कहा तो उसे पता चला कि सारी जनता वडे उत्साहपूर्ण भक्तिभाव से उक्त अद्भुत् घटना को परिपूर्ण विश्वास से देखती थी। इस कथा का आख्याता भी घटना का समकालीन है तथा स्वतत्र विचार का होकर विलकुल आशुग्राही नहीं है, साथ ही साथ वह माना हुआ विवेकी विद्वान् भी है। और यह अद्भुत् भी इस प्रकार का है कि उसकी नकल होना सम्भव नही, गवाह भी अनगिनती हैं जिनमे लगभग सभी ने उसे एक तरह से साक्षात् देखा है—

ये सब बातें सबूत मे पेश हैं। और इस घटना के साक्ष्य के सम्बन्ध मे एक और अधिक प्रबल हेतु वह है जो हमारा विस्मय प्रस्तुत कथा के सम्बन्ध मे द्विगुण कर देता है—कार्डिनल को स्वय कथा कहने वाला, उस कहानी पर विश्वास करता नही दीखता था जिससे यह भी नही कहा जा सकता कि वह इस गप्प को उडाने मे किसी तरह शरीक था। वह ठीक ही मानता था कि इस प्रकार की घटनाओ का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए आवश्यक नही कि उपलब्ध प्रमाण हर तरह बाधित ही किये जाय और न यही आवश्यक है यह जाना जाय कि उस मिथ्यात्व का उद्‌गम कहाँ से और उस कथा के निर्माण एव प्रस्तर मे किसकी शठता अथवा भोलापन उत्तरदायी है। वह यह भी समझता था कि ऐसी गवेषणा थोडे समय एव स्थान के दौरान मे करना असम्भव है और साथ ही साथ उतना ही दु साध्य है जहाँ तत्काल पहुँचा हुआ एक व्यक्ति उस समाज मे ऐसा कहाँ जब अधिकतर जनता धर्मान्धता, अज्ञता अथवा कुटिलता एव शठता से अनुप्राणित हो। ऐसी स्थिति मे एक योग्य विचारक के नाते उसने यही निर्णय किया कि सारा साक्ष्य उक्त घटना के सम्बन्ध मे स्वरूपत असत्यता को लिये हुए है और लोकोक्ति के आधार पर प्रचलित ऐसी अद्‌भुत् वस्तुएँ वास्तव मे उपेक्षा के विषय मे हैं, तर्क के नही।

किसी भी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली अद्‌भुत् चर्चाओ का वैसा विषय शायद ही कही और हो जैसा हाल ही फ्रास मे ऊब्बी पेरिस नामक प्रसिद्ध जन से नीरो की कब्र के बारे मे कही जाती है तथा जिसकी पवित्रता के बारे मे जनता युगो तक धोखे मे रही। बीमार का अच्छा होना, बहिरे को कान और अन्धे को आँख मिल जाना उस कब्र का यह प्रभाव तो जन-जन के मुह पर था। सबसे अधिक अनहोनी बात तो यह थी कि इस तरह की कई अद्‌भुत् बातें तो वही की वही ऐसे निरीक्षको की उपस्थिति मे प्रमाणित कर दी जाती थी जिनकी प्रमाणिकता नि सन्दिग्ध मानी जाती और उसकी पुष्टि के लिए ऐसे साक्षी भी मिल जाते जिन पर जनता का विश्वास अटल होता था। यह घटनाए उस सुशिक्षित युग की हैं जहाँ आज भी विश्व का सबसे बडा प्रेक्षागृह स्थित है। इतना ही सब कुछ नही, इस सम्बन्ध मे इश्तिहार छापे गये और सब दूर बाँटे गये—

जैसुइट पादरियो जैसा सुशिक्षित समाज—जो ऐसी दन्तकथाओ का जानी दुश्मन था एव जिनकी ओर सदा ही न्यायालय का भी पक्ष रहता था—भी इन अद्‌भुत्‌ वातो का न तो खण्डन ही कर सका और न उसकी असलियत को ही पहिचान पाया। हमे एक वस्तु को सिद्ध करने वाली इतनी वातें और कहाँ मिल सकती है? और हमे इतने साक्षियो के घने आवरण का विरोध कर क्या करना है? हमे उनके द्वारा तथाकथित अद्‌भुत्‌ घटनाओ की एकदम असम्भाव्यता प्रमाणित करनी है और वह सारे समझदार पुरुषो की दृष्टि मे तो अवश्य ही पर्याप्त खण्डन माना जायगा।

९५ क्या कोई भी परिणाम इतने से सुसगत कहा जा सकता है? क्योकि फिलिप्पी अथवा फारसालिया के युद्ध जैसी कतिपय घटनाओ के लिए हमे कुछ पात्र प्रवल प्रमाण के रूप मे मानव साक्ष्य उपलव्ध है? एक घटना के लिए प्रवल प्रमाण यदि मिल जाय तो क्या उस जैसी सव घटनाए ही यथार्थ हैं यह मान लिया जाय? मान लो सीजर और पाम्पिआई के दल अपनी-अपनी जीत रक्षा क्षत्र मे घोपित करते हो और इतिहासकार भी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए उस तौर की प्रतिष्ठा के वर्धक वर्णन करते हो तो परवर्ती मानव समाज किस तरह वास्तविकता को पहिचानने मे समर्थ हो सकेगा? उसी तरह हिरोडोटस और प्लूटार्क द्वारा वर्णित अद्‌भुत्‌ कथाओ मे तथा मेरियाना, वीडी अथवा अन्य किसी भी मठानुयायी इतिहासकार के उपकथन मे उतना ही प्रवल परस्पर विरोव उपलव्व है।

समझदार लोग तो हर सवाददाता की रुचि के अनुकूल दी हुई वर्णना पर सदा ग्रन्थवत्‌ विश्वास कर लेने को उद्यत रहते हैं चाहे वह वर्णन अपने देश, कुल अथवा व्यक्ति को वढा-चढाकर रग दे अथवा किसी भी तरह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अथवा प्रेरणाओ से अनुप्राणित ही क्यो न हो। इस लोक मे इससे अविक वाछनीय क्या हो सकता है कि एक पुरुप धर्मोपदेशक अथवा पैगम्वर या स्वर्ग से उतरा हुआ देवदूत समझा जाय? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इस सम्मानित उदार पद को पाने के लिए किसी भी सकट या विपत्ति का सामना करने को उद्यत न हो। अथवा कही आत्मा सम्वन्धी वृथाभिमान और उत्साहपूर्ण कल्पनामात्र

से चाहे पुरुष अपने आप को परिर्वातित करके और गभीर भाव के साथ आत्मवचना मे प्रवण हो जाय–कारण–ऐसे पवित्र तथा पुण्य कार्य को पुरस्कृत करने के हेतु पुनीत पूतारणाएँ करने मे भला किसे सकोच हुआ करता है ?

एक छोटी-सी चिनगारी बडी ज्वाला को प्रज्ज्वलित कर सकती है, क्योकि सामग्री सदा उपलब्ध रहती ही है।' जनता सदा ही सुनी हुई बात को प्रमाण मान लेती है—[1] सुकरात की यह उक्ति सत्य ही है—कारण तमाशबीन जनता बगैर जाँच पडताल के हमेशा वैसी सब बातो को बडे चाव से ग्रहण कर लेती है जो किसी भी अन्ध विश्वास या वहम को पुट देती हो अथवा किसी भी अजीब गप्प को फैलाती हो।

इस प्रकार के कितने किस्से हर युग मे प्रचलित हुए और शुरू-शुरू मे ही उनकी कलई खुल गयी और वे रफू हो गये। और कितने ही कुछ अरसे तक चलते रहे परन्तु सहसा ऐसे डूबे कि उनकी कोई याद भी नही करता, न कोई चर्चा। अतएव क्योकि ऐसी बातें उड जाती है—इस वस्तु का रहस्य स्पष्ट ही है। हम अपने सतत अनुभव तथा निरीक्षण के अनुकूल ही इन सब बातो का उत्तर दिया करते हैं और उनका मूल जनता के सहज भोलेपन और मिथ्याग्रह की प्रवृत्तियो मे है यह हम समझ लेते हैं। तो क्या हम ऐसी स्थिति मे इस सीधे-सादे उत्तर को स्वीकार लें और प्रकृति के सुतरा सिद्ध नियमो की विचित्र अवहेलना को भी चलने दें ?

यह कहने की आवश्यकता नही कि झूठ को पकडने मे कितनी कठिनाई होती है—चाहे वह व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक इतिवृत्त के सम्बन्ध मे हो, और चाहे वह हाल ही उसी स्थल पर भी क्यो न घटित हुआ हो—वह कठिनाई और भी अधिक बढ जाती है जब कि घटना देश और काल मे कुछ भी दूर हो। न्यायालय भी, जिसके पास सकल सत्ता साधन और सही-सही जाँच और निर्णय के पूर्ण उपकरण विद्यमान होते हैं, बहुधा तात्कालिक घटनाओ के सत्यासत्य की परीक्षा में आकुल हो

---

१ सुक्रेट।

जैसुइट पादरियो जैसा सुशिक्षित समाज—जो ऐसी दन्तकथाओ का जानी दुश्मन था एव जिनकी ओर सदा ही न्यायालय का भी पक्ष रहता था—भी इन अद्‌भुत् बातो का न तो खण्डन ही कर सका और न उसकी असलियत को ही पहिचान पाया। हमे एक वस्तु को सिद्ध करने वाली इतनी बातें और कहाँ मिल सकती हैं? और हमे इतने साक्षियो के घने आवरण का विरोध कर क्या करना है? हमे उनके द्वारा तथाकथित अद्‌भुत् घटनाओ की एकदम असम्भाव्यता प्रमाणित करनी है और वह सारे समझदार पुरुषो की दृष्टि मे तो अवश्य ही पर्याप्त खण्डन माना जायगा।

९५. क्या कोई भी परिणाम इतने से सुसगत कहा जा सकता है? क्योकि फिलिप्पी अथवा फारसालिया के युद्ध जैसी कतिपय घटनाओ के लिए हमे कुछ पात्र प्रबल प्रमाण के रूप मे मानव साक्ष्य उपलब्ध है? एक घटना के लिए प्रबल प्रमाण यदि मिल जाय तो क्या उस जैसी सब घटनाए ही यथार्थ हैं यह मान लिया जाय? मान लो सीजर और पाम्पिआई के दल अपनी-अपनी जीत रक्षा क्षत्र मे घोपित करते हो और इतिहासकार भी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए उस तौर की प्रतिष्ठा के वर्धक वर्णन करते हो तो परवर्ती मानव समाज किस तरह वास्तविकता को पहिचानने मे समर्थ हो सकेगा? उसी तरह हिरोडोटस और प्लूटार्क द्वारा वर्णित अद्‌भुत् कथाओ मे तथा मेरियाना, बीडी अथवा अन्य किसी भी मठानुयायी इतिहासकार के उपकथन में उतना ही प्रबल परस्पर विरोध उपलब्ध है।

समझदार लोग तो हर सवाददाता की रुचि के अनुकूल दी हुई वर्णना पर सदा ग्रन्थवत् विश्वास कर लेने को उद्यत रहते हैं चाहे वह वर्णन अपने देश, कुल अथवा व्यक्ति को बढा-चढाकर रग दे अथवा किसी भी तरह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अथवा प्रेरणाओ से अनुप्राणित ही क्यो न हो। इस लोक मे इससे अधिक वाछनीय क्या हो सकता है कि एक पुरुप धर्मोपदेशक अथवा पैगम्बर या स्वर्ग से उतरा हुआ देवदूत समझा जाय? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इस सम्मानित उदार पद को पाने के लिए किसी भी सकट या विपति का सामना करने को उद्यत न हो। अथवा कही आत्मा सम्बन्धी वृथाभिमान और उत्साहपूर्ण कल्पनामात्र

से चाहे पुरुष अपने आप को परिवर्तित करके और गभीर भाव के साथ आत्मवचना मे प्रवण हो जाय--कारण--ऐसे पवित्र तथा पुण्य कार्य को पुरस्कृत करने के हेतु पुनीत पूतारणाएँ करने मे भला किसे सकोच हुआ करता है ?

एक छोटी-सी चिनगारी बडी ज्वाला को प्रज्ज्वलित कर सकती है, क्योकि सामग्री सदा उपलब्ध रहती ही है।' जनता सदा ही सुनी हुई बात को प्रमाण मान लेती है—[1] सुकरात की यह उक्ति सत्य ही है—कारण तमाशबीन जनता वगैर जाँच पडताल के हमेशा वैसी सब बातो को वडे चाव से ग्रहण कर लेती है जो किसी भी अन्ध विश्वास या वहम को पुट देती हो अथवा किसी भी अजीव गप्प को फैलाती हो।

इस प्रकार के कितने किस्से हर युग मे प्रचलित हुए और शुरू-शुरू मे ही उनकी कलई खुल गयी और वे रफू हो गये। और कितने ही कुछ अरसे तक चलते रहे परन्तु सहसा ऐसे डूबे कि उनकी कोई याद भी नही करता, न कोई चर्चा। अतएव क्योकि ऐसी बातें उड जाती हैं—इस वस्तु का रहस्य स्पष्ट ही है। हम अपने सतत अनुभव तथा निरीक्षण के अनुकूल ही इन सब बातो का उत्तर दिया करते है और उनका मूल जनता के सहज भोलेपन और मिथ्याग्रह की प्रवृत्तियो मे है यह हम समझ लेते हैं। तो क्या हम ऐसी स्थिति मे इस सीधे-सादे उत्तर को स्वीकार लें और प्रकृति के सुतरा सिद्ध नियमो की विचित्र अवहेलना को भी चलने दें ?

यह कहने की आवश्यकता नही कि झूठ को पकडने मे कितनी कठिनाई होती है—चाहे वह व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक इतिवृत्त के सम्वन्ध मे हो, और चाहे वह हाल ही उसी स्थल पर भी क्यो न घटित हुआ हो—वह कठिनाई और भी अधिक वढ जाती है जब कि घटना देश और काल मे कुछ भी दूर हो। न्यायालय भी, जिसके पास सकल सत्ता साधन और सही-सही जाँच और निर्णय के पूर्ण उपकरण विद्यमान होते है, वहुधा तात्कालिक घटनाओ के सत्यासत्य की परीक्षा में आकुल हो

---

१ सुक्रेट।

उठते हैं। परन्तु जब उड़ती हुई खबरें और चलती हुई वहम और झूट-सच की मिलावट के मामूली तरीकों पर विश्वास रख जनता इन अजीब बातों को सही मान लेती है तब तो वह विषय विवाद का मूल ही नहीं रह जाता, विशेषकर इस अवस्था में जब जनसमुदाय की मनोवृत्तियाँ किसी भी एक पक्ष की ओर झुकने लग जाती है।

नवीन सम्प्रदाय के शैशवकाल में समझदार पण्डित-समाज भी सामान्यत इस वस्तु को विचार के सर्वथा ममझकर उस ओर कोई ध्यान या महत्व नहीं देते। और आगे चलकर जब वह इस वचना को पहिचानने तथा प्रतारित जनसमूह की आँख खोलने के लिए उद्यत भी हो तो क्या ? जब मौसम गुजर चुका और वे सन्दर्भ तथा साक्ष्य सवदा के लिए लुप्त हो गये। इस अवस्था में झूठ को पकड़ने के कोई भी साधन नहीं बचने सिवाय उसके प्रचारकों के एकमात्र साक्ष्य के। और जो भी कुछ सामग्री अवशेष रह जाती है वह सूक्ष्मदर्शी विवेकियों के लिए चाहे पर्याप्त हो परन्तु प्राकृत जनसामान्य के बुद्धिगम्य होना नितान्त असम्भव होता है।

९८ निष्कर्ष यह है कि किसी भी तरह के अद्भुत को सम्भाव्यता की भी कोटि तक पहुचा देने वाला कोई प्रमाण रह नहीं जाता, इसे सिद्ध कर देने वाले अबाध प्रमाण की तो कमी ही क्या। मान लिया जाय कि कोई साधक प्रमाण कहीं मिल भी जाय तो तुरन्त ही उसका बाधक प्रमाण भी उपस्थित हो ही जाता है जो इसी सामग्री पर आधारित हो जो साधक प्रमाण का आधार रहा है। यह तो ध्रुव सत्य है कि मानव साक्ष्य की प्रामाणिकता का आधार केवल अनुभव है, और यही अनुभव हमें प्राकृतिक नियमों की सत्ता में विश्वास उत्पन्न कराता है। अतएव ऐसी स्थिति में जब एक वस्तु के सम्बन्ध में हमें दो अनुभव होने लगते हैं तो हमें एक को दूसरे अनुभव में घटाकर उसी ओर झुकना पड़ता है जिस ओर कुछ शेष बचता हुआ दीख पड़े। परन्तु उक्त सिद्धान्त के अनुसार सकल लोकप्रिय सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विरोधी अनुभवों में व्यवकलन का न्याय लगाने पर शेष शून्य ही रह जाता है। अतएव हम इस सिद्धान्त के रूप में स्वीकृति कर सकते हैं कि कोई भी मानव साक्ष्य किसी भी

अद्भुत का प्रमाणित करने की सामर्थ्य नही रखता और न वह किसी भी सम्प्रदाय का वास्तविक मूलाधार ही बन सकता।

९९ यहा यह कह देना उचित होगा कि 'अद्भुत अमाध्य है और किसी भी सम्प्रदाय का आधार होना असम्भाव्य है—इस सिद्धान्त के कतिपय अपवाद अवश्य हो सकते है—यथा—यह मैं मानता हूँ कि प्राकृतिक नियमो के भग अथवा अद्भुत् घटनाए कुछ अवश्य हो सकती है जिसकी सत्यता मानव साक्ष्य के आधार पर प्रमाणित हो जाय, जो भी ऐसे सन्दर्भो का उल्लेख इतिहास मे मिलना एक बिलकुल असम्भव सी बात है। उदाहरणार्थ—मान लो कि समस्त भाषाओ मे ग्रन्थकारो ने यह लिखा हो कि सन् १६०० की पहिली जनवरी के दिन से आठ दिन तक सकल मही मण्डल पर सर्वत्र अधकार छाया रहा और मान लो इस अप्राकृतिक घटना के सम्बन्ध मे पारस्परिक जनश्रुति भी इतनी जोर की प्रचलित हो और सब देश-देशान्तर से लौटे हुए यात्री भी वही गाथा कहते हो जिसमे तनिक भी अन्तर या विरोध नही पाया जाता हो तो स्पष्ट ही है कि आज के विचारक उक्त घटना की सत्यता मे शका करने की अपेक्षा उसे यथावत् ग्रहण कर' यह अन्धकार क्यो कर हुआ'—इसके कारणो का अन्वेषण करने मे अवश्य जुट जायगे। कई अन्यान्य घटनाओ के सादृश्य पर प्रकृति मे ह्रास, विकृति अथवा लय की सम्भावना हो सकती है और कोई भी घटना जो इस प्राकृतिक विपत्ति की ओर झुकाव दिखाती हो वह मानव प्रमाण के द्वारा प्रमेय कोटि मे आ सकती है यदि वह साधक प्रमाण व्यापक एव अव्यभिचरित पाया जाय।

परन्तु मान लो इग्लैण्ड के सभी इतिहासकार एकमत हो जाय कि महारानी एलिजाबेथ का देहावसान सन् १९०० ईसवी की पहिली जनवरी को हुआ था और उसकी मृत्यु के पूर्व एव पश्चात् राजवैद्यो ने एव उसके सभासदो तथा आप्त स्वजनो ने उसे देखा था, पार्लियामेंट के द्वारा उसका उत्तराधिकारी भी घोषित हो चुका था, इसके उपरान्त दफनाने के एक माह बाद, वह फिर नजर आयी अपनी गद्दी सम्हाली और इग्लैण्ड पर तीन वर्ष तक यथापूर्व शासन किया—तो मुझे यह कहना होगा कि सकल इतिहासकार एव इतर मानव साक्ष्य पर विस्मय मुझे अवश्य

होगा, परन्तु इस विस्मयावह घटना पर विश्वास करने के सम्बन्ध मे तनिक भी प्रवृति नही होगी। मुझे सन्देह नही होगा कि उसकी मृत्य कल्पित थी अथवा अन्य सार्वजनिक उक्तियाँ कल्पित थी—प्रत्युत मैं यह दावे के साथ कहूँगा कि ये सब अवश्य ही कल्पित थी, यह न कभी हुआ और यह विवरण कदापि वास्तविक नही हो सकता। आप लोग व्यर्थ ही मुझ पर यह आरोप लगाने की चेष्टा करेंगे कि मैं इतने महत्व के विषय पर यह मन्तव्य देकर दुनिया को धोखा नही दे सकता जब कि यह मानी हुई बात है कि वह रानी अपनी बुद्धिमत्ता एव ठोस विचार के लिए प्रख्यात थी और इस प्रकार का जाल रचने से आखिर उसे लाभ भी क्या हो सकता था—इत्यादि—ये सब बातें अवश्य मुझे चकित करेंगी, तथापि मैं उत्तर यही दूंगा कि दुनिया मे लोगो की मूर्खता एव शठता एक ऐसी साधारण-सी बात है कि यह भी कि सब बदमाशो ने मिलकर एक अनहोनी मनगढन्त का सर्वत्र प्रसार कर दिया—परन्तु मैं एक ऐसे विचित्र प्रकृति विरोध को स्वीकार करने के लिए कभी भी तैयार न होऊँगा।

मान लो कि ऐसी कोई आश्चर्यकारी वस्तु किसी नये सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे कही जाय, तो युग-युग मे जनता इस प्रकार के हास्यास्पद कथानको मे लादी गयी है कि वह अद्भुत् घटना ही पर्याप्त होगी कि समझदार व्यक्ति तुरन्त ही उस वचना को समझ जाय और उस सम्बन्ध मे अधिक छान-बीन करने की भी आवश्यकता न रख एकदम उसे अस्वीकृत कर दे। चाहे वह परम पुरुष, जिसके सम्बन्ध मे वह अद्भुत् बात फैलायी गयी हो, सर्वशक्तिमान परमात्मा ही क्यो न हो, वह इसी नाते तनिक भी सभाव्यता की कोटि मे नही चढ पाती, कारण यह है कि उस परम पिता परमेश्वर के सहज गुण एव धर्मों की किसी को वास्तविक पहिचान ही नही है सिवाय इसके कि हमे उसके द्वारा रचित भौतिक पदार्थो का ज्ञान हो और कारणो को देखकर कार्य का अनुमान किया जा सके। इसका मतलब यह हुआ कि हम पुन पूर्व ज्ञान का अवलम्बन करने और मानव साक्ष्य के अन्तर्गत सत्यता के प्रतियोगी धर्मों की परस्पर तुलना करने लगे और उनकी समानता अद्भुत् के नाम पर बतायी जाने वाली प्राकृतिक धर्म एव नियमो की भग्नावस्था के साथ करने लगेंगे जिसके

द्वारा बलाबल का विचार कर कौन अधिक शक्य एव सम्भाव्य है यह हम निर्णय कर सकें। चूकि धार्मिक अद्भुत् के सम्बन्ध मे जो साक्ष्य मिलते हैं उनमे वास्तविकता का सर्वाधिक हनन होता पाया जाता है जितना और किसी दूसरी बात के सम्बन्ध मे नही होता—यह अनुभव उस साक्ष्य के मूल्य को घटाने मे पर्याप्त होना चाहिये और हमे एक दृढ निर्णय इस तत्व पर करने की प्रेरणा देकर रहेगा कि हमे निर्मूल बातो पर कभी ध्यान नही देना चाहिए चाहे उस कृत्रिम भावना का आयाम कितना ही विस्तृत क्यो न हो।

प्रतीत होता है कि लार्ड बेकन ने भी सिद्धान्तत यही तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि "हमे भूत-प्रेत आदि तथा अन्य असाधारण सृष्टि के सम्बन्ध मे प्रचलित चर्चाओ के सग्रह का इतिहास रखना चाहिए।" सक्षेपत प्रकृति की सृष्टि मे जो भी कुछ असाधारण या दुर्लभ-सी वस्तु हो उसकी परिगणना करना आवश्यक है। और यह काम बडी बारीक छान-बीन के साथ करना होगा अन्यथा हम सत्य से कही दूर न चले जाय। सर्वोपरि यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि तथाकथित साम्प्रदायिक वस्तु विशेष के सम्बन्ध मे खास तौर से सतर्क रहने की आवश्यकता है। उतनी ही सतर्कता जादूगरी बाजीगरी अथवा कामियागिरो की रचनाओ अथवा ऐसे लेखको के ग्रन्थो के सम्बन्ध मे बरतनी होगी जिन्हे गप्प उडाने तथा दन्तकथाओ को प्रसारित करने का अदम्य उत्साह हैं।[1]

उक्त विचारधारा से मुझे सन्तोष है, कारण यह ईसाई धर्म के प्रच्छन्न, दारुण शत्रुओ को अवश्य अवश्य ही सम्भ्रान्त कर देने वाला है जिन्होने उस धर्म को मानव तर्क के आधार स्थिर करने का प्रयत्न किया है। हमारा परमपुनीत धर्म श्रद्धा पर आधारित है, तर्क पर नही और यही एक ध्रुव उपाय है जिससे वह ऐसी एक परीक्षा का विषय बनाया जाय जो, निश्चय ही, वह सहन करने मे असमर्थ ठहरेगा। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हमे धर्म ग्रन्थो मे वर्णित अद्भुत् विषयो का विश्लेषण कर सूक्ष्म परीक्षण करना चाहिए। कही हम अधिक

---

१ नोटम आर्गनस—भाग २, सूत्र २९।

होगा, परन्तु इस विस्मयावह घटना पर विश्वास करने के सम्बन्ध मे तनिक भी प्रवृत्ति नही होगी। मुझे सन्देह नही होगा कि उसकी मृत्यु कल्पित थी अथवा अन्य सार्वजनिक उक्तियाँ कल्पित थी—प्रत्युत मैं यह दावे के साथ कहूँगा कि ये सब अवश्य ही कल्पित थी, यह न कभी हुआ और यह विवरण कदापि वास्तविक नही हो सकता। आप लोग व्यर्थ ही मुझ पर यह आरोप लगाने की चेष्टा करेंगे कि मैं इतने महत्व के विषय पर यह मन्तव्य देकर दुनिया को धोखा नही दे सकता जब कि यह मानी हुई बात है कि वह रानी अपनी बुद्धिमत्ता एव ठोस विचार के लिए प्रख्यात थी और इस प्रकार का जाल रचने मे आखिर उसे लाभ भी क्या हो सकता था—इत्यादि—ये सब बातें अवश्य मुझे चकित करेंगी, तथापि मैं उत्तर यही दूंगा कि दुनिया मे लोगो की मूर्खता एव शठता एक ऐसी साधारण-सी बात है कि यह भी कि सब बदमाशों ने मिलकर एक अनहोनी मनगढन्त का सर्वत्र प्रसार कर दिया—परन्तु मैं एक ऐसे विचित्र प्रकृति विरोध को स्वीकार करने के लिए कभी भी तैयार न होऊँगा।

मान लो कि ऐसी कोई आश्चर्यकारी वस्तु किसी नये सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे कही जाय, तो युग-युग मे जनता इस प्रकार के हास्यास्पद कथानको मे लादी गयी है कि वह अद्‌भुत् घटना ही पर्याप्त होगी कि समझदार व्यक्ति तुरन्त ही उस वचना को समझ जाय और उस सम्बन्ध मे अधिक छान-बीन करने की भी आवश्यकता न रख एकदम उसे अस्वीकृत कर दे। चाहे वह परम पुरुष, जिसके सम्बन्ध मे वह अद्‌भुत् बात फैलायी गयी हो, सर्वशक्तिमान परमात्मा ही क्यो न हो, वह इसी नाते तनिक भी सभाव्यता की कोटि मे नही चढ पाती, कारण यह है कि उस परम पिता परमेश्वर के सहज गुण एव धर्मों की किसी को वास्तविक पहिचान ही नही है सिवाय इसके कि हमे उसके द्वारा रचित भौतिक पदार्थों का ज्ञान ही और कारणो को देखकर कार्य का अनुमान किया जा सके। इसका मतलब यह हुआ कि हम पुन पूर्व ज्ञान का अवलम्बन करने और मानव साक्ष्य के अन्तर्गत सत्यता के प्रतियोगी धर्मों की परस्पर तुलना करने लगे और उनकी समानता अद्‌भुत् के नाम पर बतायी जाने वाली प्राकृतिक धर्म एव नियमों की भग्नावस्था के साथ करने लगेंगे जिसके

द्वारा बलाबल का विचार कर कौन अधिक शक्य एव सम्भाव्य है यह हम निर्णय कर सकें। चूकि धार्मिक अद्भुत् के सम्बन्ध मे जो साक्ष्य मिलते हैं उनमे वास्तविकता का सर्वाधिक हनन होता पाया जाता है जितना और किसी दूसरी बात के सम्बन्ध मे नही होता—यह अनुभव उस साक्ष्य के मूल्य को घटाने मे पर्याप्त होना चाहिये और हमे एक दृढ निर्णय इस तत्त्व पर करने की प्रेरणा देकर रहेगा कि हमे निर्मूल बातो पर कभी ध्यान नही देना चाहिए चाहे उस कृत्रिम भावना का आयाम कितना ही विस्तृत क्यो न हो।

प्रतीत होता है कि लार्ड वेकन ने भी सिद्धान्तत यही तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि "हमे भूत-प्रेत आदि तथा अन्य असाधारण सृष्टि के सम्बन्ध मे प्रचलित चर्चाओ के सग्रह का इतिहास रखना चाहिए।" सक्षेपत प्रकृति की सृष्टि मे जो भी कुछ असाधारण या दुर्लभ-सी वस्तु हो उसकी परिगणना करना आवश्यक है। और यह काम बडी वारीक छान-वीन के साथ करना होगा अन्यथा हम सत्य से कही दूर न चले जाय। सर्वोपरि यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि तथाकथित साम्प्रदायिक वस्तु विशेष के सम्बन्ध मे खास तौर से सतर्क रहने की आवश्यकता है। उतनी ही सतर्कता जादूगरी बाजीगरी अथवा कामियागिरो की रचनाओ अथवा ऐसे लेखको के ग्रन्थो के सम्बन्ध मे बरतनी होगी जिन्हे गप्प उडाने तथा दन्तकथाओ को प्रसारित करने का अदम्य उत्साह हैं।[1]

उक्त विचारधारा से मुझे सन्तोष है, कारण यह ईसाई धर्म के प्रच्छन्न, दारुण शत्रुओ को अवश्य अवश्य ही सम्भ्रान्त कर देने वाला है जिन्होने उस धर्म को मानव तर्क के आधार स्थिर करने का प्रयत्न किया है। हमारा परमपुनीत धर्म श्रद्धा पर आधारित है, तर्क पर नही और यही एक ध्रुव उपाय है जिससे वह ऐसी एक परीक्षा का विषय बनाया जाय जो, निश्चय ही, वह सहन करने मे असमर्थ ठहरेगा। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हमे धर्म ग्रन्थो मे वर्णित अद्भुत् विषयो का विश्लेषण कर सूक्ष्म परीक्षण करना चाहिए। कही हम अधिक

---

१ नोटम आर्गनस—भाग २, सूत्र २९।

विस्तीर्ण क्षेत्र को लेकर गुमराह न हो जाय, इसलिए हम अपनी गवेषणा को पेन्टेय्यूश की कथानको तक ही सीमित कर लें और इन दाम्भिक ईसाई धर्मानुयायियो के सिद्धातो के अनुसार यह मानकर परीक्षा करें कि वे उक्तियाँ ईश्वर प्रणीत एव अपोरुषेय न हो कर किसी इतिहासकार अथवा मर्त्य लेखक द्वारा प्रणीत है। तो फिर इस लक्ष्य की तत्परता मे हमे सर्वप्रथम एक पुस्तक का निरीक्षण करना है जो हमे ग्राम्य मूर्ख वर्बरो से प्राप्त हुई है।

ग्यारहवां परिच्छेद

देव विशेष और भावी स्थिति

कुछ दिनो पूर्व एक ऐसे मित्र के साथ, जिन्हे कि सशयात्मक विरोधाभासो से लगाव है, मैं चर्चा मे सलग्न था, जिसमे उन्होने ऐसे सिद्धात प्रतिपादित किये जिनसे यद्यपि मैं किसी भी प्रकार से सहमत नही हो सका, किंतु चूकि वे विचित्र प्रतीत होते है, और पूरी चर्चा मे अंतर्निहित तार्किक शृखला से बराबर अपना सम्बन्ध बनाए रखते हैं, मैं अपनी स्मृति से यथाशक्ति उन्हे ठीक-ठीक उपस्थित करने की चेष्टा करूँगा, जिससे कि पाठक गण उन्हे स्वय परख सकें।

हमारी चर्चा का आरम्भ मेरे द्वारा दर्शन के इस सुन्दर भाग्य की सराहना से हुई कि यह मात्र दर्शन---जिसे अन्य सुविधाओ के अतिरिक्त पूर्ण स्वतत्रता की आवश्यकता होती है और जिसका विकास भावनाओ तथा तर्क के स्वस्थ विरोध मे होता है—का ही सौभाग्य है कि उसका प्रारम स्वतत्रता और सहनशीलता के युग व देश मे हुआ, जहाँ उसके अतिवादी सिद्धान्तो के बावजूद भी, किसी विधि या दड-विधान के द्वारा उसे नही कुचला गया। सिवाय प्रोटागोरस के देश-निष्कापन और सार्क्रेटीस की मृत्यु के, जिसमे से अतिम घटना के कारण रूप अन्य अभिप्राय भी थे, प्राचीन इतिहास मे शायद ही ऐसे उदाहरण मिले जो कि वर्तमान युग मे सक्रामक रूप से व्याप्त विद्वेष की भावना की पुष्टि करें। एथेन्स मे एपिक्यूरस अपनी लबी आयु के अतिम क्षणो तक शाति और सुख से रहा, एपिक्यूरन लोगो को तो धार्मिक क्रिया-कलापो और प्रचलित धर्म के अतर्गत देव-स्थली और पवित्र कर्म-काडो के सचालन की भी अनुमति दे दी गयी, और वेतन तथा पेंशन के रूप मे जन-उत्साह दर्शन के सभी सम्प्रदायो के विद्वानो को रोमन सम्राटो मे सर्वाधिक बुद्धिमान सम्राट् द्वारा समान रूप से प्रदान किया गया। दर्शन मे शैशनकाल में

इस प्रकार का व्यवहार कितना आवश्यक था यह आसानी से समझा जा सकता है यदि हम यह सोचें कि आज भी, जब कि वह (दर्शन) अधिक मजबूत और सामर्थ्यवान हो चुका है, उसे वातावरण की कटुता और पक्षपातपूर्ण विरोधो और असत्यारोपो के कठिन झकोरो का सामना करने मे कितनी कठिनाई होती है।

मेरे मित्र ने कहा, जिसे तुम मात्र दर्शन का सुन्दर भाग्य कहकर सराहना करते हो, वह वस्तुस्थिति के समान क्रम की उपज मालूम होती है जो कि प्रत्येक युग और देश मे अपरिहार्य है। यह पक्षपातपूर्ण विरोध, जिसके कि तुम्हे दर्शन के प्रति घातक होने की शिकायत है, यथार्थत दर्शन की उपज है जो कि अधविश्वासो से सलग्न होकर, अपने आपको अपने जनक के हित से असपृक्त कर, उसका निकटतम विरोधी और उस पर दोषारोपण करने वाला हो गया है। आज के भयानक वितडावाद के विषय, धर्म के काल्पनिक सिद्धात, शायद जगत् के प्रारभिक युग मे समझे या स्वीकार नही किए जाते, जब कि मनुष्य ने, अपने पूर्णत अशिक्षित होने के कारण अपनी अविकसित बुद्धि के अनुकूल ही धर्म की एक मान्यता को अपनाया, और अपने धार्मिक सिद्धातो के रूप मे ऐसे कथानको को गढा जो कि तर्क या वितडावाद से अधिक परम्परागत् विश्वासो के विषय थे। अतएव, प्रारभिक दार्शनिक विरोधाभासो और सिद्धातो के फलस्वरूप उत्पन्न प्रथम सकटपूर्ण स्थिति जब समाप्त हो गयी तो उसके बाद, युगो पूर्व से, ये शिक्षक सभवत प्रचलित अधविश्वासो के साथ बडे मैत्रीपूर्ण ढग से रहते और मानव समुदाय मे मनुष्यो के बीच एक काफी मजबूत दीवार खडी करते चले आये, पहला सभी विद्वानो और बुद्धिमानो के स्वपक्ष मे होने का दावा करता हुआ, और दूसरा सभी अविचारशीलो और रूढिवादियो का सकलन करता हुआ।

मैंने उत्तर मे कहा कि मालूम होता है कि तुमने राजनीति के प्रश्न को बिलकुल ही छोड दिया, और कभी यह भी न सोचा कि एक बुद्धिमान न्यायाधीश दर्शन के कतिपय सिद्धान्तो से औचित्यपूर्ण विद्वेष रख सकता है, जैसे कि एपिक्यूरस के सिद्धात, जो कि दैवी-अस्तित्व और परिणामत भविष्य वक्तव्य और भावीराज्य का निषेध करते हुए,

नैतिकता के बधन को काफी हद तक ढीला करते हुए प्रतीत होते हैं, और इसलिए सभ्य-समाज की शान्ति के लिए घातक समझे जा सकते हैं।

प्रत्युत्तर मे मेरे मित्र बोले, मैं जानता हूँ कि यथार्थत ये वैमनस्यताएँ कभी भी ठडे दिमाग या दर्शन के दुष्परिणाम के अनुभव स्वरूप उत्पन्न नही होती, वरन् पूर्णत अधविश्वास और पक्षपात के कारण होती हैं। किंतु यदि मैं जरा आगे बढकर यह कहू कि क्या होता यदि एपिक्यूरस पर उस समय के किन्ही खुशामदियो और चुगलखोरो द्वारा जनसाधारण के सम्मुख दोषारोपण किया जाता, जिससे कि वह अपना बचाव सरलतापूर्वक कर सकता और अपने दर्शन के सिद्धातो को अपने प्रतिपक्षियो, जिन्होने कि बडे उत्साह से उसे जनसाधारण की घृणा व रोष का पात्र बनाने की चेष्टा की थी, के सिद्धातो के समान ही हितकर सिद्ध कर देता ?

मैंने कहा कि मेरी इच्छा है कि तुम इस असाधारण विषय पर अपनी वाकृशक्ति आजमाओ, और एपिक्यूरस की ओर से एक व्याख्यान दो जो कि न केवल एथेन्स के जनसमूह, यदि तुम्हारी समझ मे एथेन्स के उस प्राचीन और सभ्य नगर मे जनसमूह रहा हो, वरन उसके श्रोताओ मे उपस्थित दार्शनिक वर्ग को भी सतुष्ट ,कर सके, जो कि उसके तर्कों को आत्मसात् कर सके।

उन्होने कहा कि इन परिस्थितियो मे यह काम कुछ कठिन नही है और यदि तुम्हारी इच्छा है तो मैं अपने आपको क्षण भर के लिए एपिक्यूरस और तुम्हे एथेंसवासी जनसमूह मान कर चलूंगा और तुम्हे एक ऐसा तीक्ष्ण भाषण दूंगा जिसमे कि मेरे प्रतिपक्षियो के विद्वेष का कोई आधार शेष नही रह जायेगा।

बहुत अच्छा कृपया आप अपनी इन मान्यताओ पर आगे बढें।

हे एथेंन्सवासियो ! मैं यहाँ आपकी सभा मे वह सब कुछ, जिसे मैं अपने विद्यालय स्वीकार करता रहा हूँ, न्यायोचित ठहराने आया हूँ, और शान्त व गम्भीर जिज्ञासुओ से वार्ता की जगह, मैं अपने आपको (आज) अपने क्रोधी प्रतिनिधियो द्वारा दोषी ठहराया गया पाता हूँ। आपका ध्यान, जो कि औचित्यपूर्ण ढग से जन-कल्याण तथा जनसामान्य

के हित सबधी प्रश्नो मे लगा होता है, आज दार्शनिक चिंतन के विचारार्थ आर्कापित किया गया है और ये, भव्य किन्तु शायद निरर्थक विचार-विमर्श आपके अधिक परिचित व उपयोगी कार्यों का स्थान लेने को प्रस्तुत है। किन्तु जहाँ तक मेरे वश की बात है, मैं उपयोगिता के इस अपव्यय को रोकूंगा। हम यहाँ देशो की उत्पत्ति और शासन-प्रणाली की चर्चा नही करेंगे। हमे केवल यही विचार करना है कि ऐसे प्रश्न किस सीमा तक जनहित से सम्बन्वित है। और यदि मैं आप लोगो को आश्वस्त कर सका कि समाज की शाति और शासन की सुरक्षा के सदर्भ मे ये प्रश्न बिलकुल निरपेक्ष है, तो मुझे आशा है कि आप हमे तुरन्त ही हमारे विद्यालयो मे लौट जाने देंगे, जहाँ कि हम आराम से इस महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही दर्शन के सर्वाधिक काल्पनिक विषय की जाँच-परख कर सकें।

आपके पूर्वजो की परम्परा और धर्माचार्यों के सिद्धातो, जिनमे कि मैं हार्दिक रूप से सहमत हूँ, से असतुष्ट, कुछ धार्मिक चिन्तन धर्म के बौद्धिक आधारो पर स्थापना के प्रश्न पर अति जिज्ञासु हो उठते है, और अपनी जिज्ञासा द्वारा वे समाधान के बदले शकाएँ उपस्थित करते हैं जो कि स्वभावत ध्यानपूर्वक किये गये तर्कपूर्ण खोजबीन के परिणाम हैं। वे विश्व के व्यवस्थित, सुन्दर और विवेकपूर्ण को बडे आकर्षक रगो मे चित्रित करते हैं, और फिर पूछते है कि क्या बुद्धि का इतना भव्य विलास अणुओ के आकस्मिक सम्मिलन का परिणाम हो सकता है अथवा जिसे कि बडे-बडे विद्वान भी पूर्णत समझ सकने मे असमर्थ होते हैं वह क्या मात्र आकस्मिकता की उपज हो सकती है। मैं इस तर्क के औचित्य की परख नही करूँगा। मैं इसे उतना ही ठोस समझूंगा जितना कि मेरे प्रतिद्वन्द्वी और मुझ पर दोषारोपण करने वाले चाहे। मेरे लिए तो इतना ही पर्याप्त होगा कि मैं इसी तर्क के आधार पर प्रस्तुत प्रश्न की नितान्त काल्पनिकता प्रमाणित कर दूं, और जब अपने दार्शनिक विचारो मे मैं भविष्य-कथन और भावी राज्य को अस्वीकार करने, जिसका अभिप्राय समाज के आधारशिलाओ पर आघात करना नहीं होगा, तो ऐसे सिद्धात प्रस्तुत करूँ जिसे कि वे अर्थात् मेरे प्रतिद्वद्वी यदि अपने ही विषयो पर,

तार्किक विचार करें तो स्वय ही ठोस और सतोषप्रद समझें।

तो, मेरे प्रतिवादियो ! आप लोगो के अनुसार दैवी-सत्ता जिसे कि मैं अस्वीकार नही करता, के लिए प्रमुख अथवा एकमात्र तर्क है उसकी प्रकृति की व्यवस्था से नि सृति। और जहां भी ऐसी बुद्धिपरता व अस्तित्व के लक्षण प्रकट होते हैं तो आप उन्हे मात्र आकस्मिकता या अधी अबौद्धिक शक्ति से कारण भूत मानने के दृष्टिकोण को धृष्टता समझते हैं। आप स्वीकार करेंगे कि यह तर्क कारण-कार्य की शृखला पर आधारित है। किसी कृति की व्यवस्था देखकर आप अनुमान करते हैं कि कृतिकार के मस्तिष्क मे अवश्य ही उसकी योजना और पूर्व-धारणा रही होगी। यदि आप इससे सहमत नही होते, तो आप स्वीकार करेंगे कि आपके निष्कर्ष गलत सिद्ध होगे, और आप अपने निष्कर्षों की स्थापना प्रकृति स्वीकृत आधारो से भी परे करने का वहाना नही करेंगे। इतना आप स्वीकार करते है। मैं चाहता हूँ कि अब आप (इसके) परिणामो पर गौर करें।

जब एक कारण से हम किसी विशेष परिणाम का अनुमान करते हैं, तो हमारे लिए यह आवश्यक होता है कि हम दोनो का अनुमान बराबर समझें, और कारण मे किसी भी ऐसे गुण का आरोप कभी न करें जो कि परिणाम को उत्पन्न करने मे पर्याप्त से अधिक हो। दस औंस के परिणाम वाले किसी भी द्रव्य की मात्रा बढाने जाने से यह प्रमाणित होगा कि प्रस्तुत मात्रा दस औंस से अधिक है, किन्तु इसके आधार पर यह कभी नही कहा जा सकेगा यह मात्रा तो सौ औंस से अधिक हो गयी। यदि कोई कारण अपेक्षित परिणाम उत्पन्न करने मे अपर्याप्त है, तो या तो हम उसे कारण मानने से इकार करेंगे या फिर उसमे ऐसे गुणो का समावेश करेंगे जो कि परिणाम से उसे सतुलित करे। किंतु यदि हम उसमे और भी गुणो का आरोप करते चले जावें या उसे अन्य परिणामो को भी उत्पन्न करने मे सशक्त समझें, तो इससे हमे अनुमान का अधिकार पत्र मिल जाता है, और हम स्वेच्छापूर्वक बिना किसी तर्क या आधार के विभिन्न गुणो और शक्तियो की उपस्थिति मानते चले जाते हैं।

यही नियम वहाँ भी लागू होते हैं जहाँ कि प्रस्तुत कारण का स्वरूप अचेतन रूड पदार्थ या एक बौद्धिक चेतन सत्ता समझा जावे। यदि

कारण का ज्ञान केवल परिणाम से ही हो तो हमारे लिए यह कभी भी आवश्यक नही है कि उसमे ऐसे किसी भी गुण का आरोप करें जो कि अपेक्षित कारण को करने की आवश्यकता से अधिक हो, न ही न्यायपूर्ण ढग से हम पुन कारण की ओर लौट सकते है और उन परिणामो के अतिरिक्त भी, केवल जिनके फलस्वरूप ही हमे उसका (कारण का) ज्ञान होता है, अन्य परिणामो का अनुमान कर मकते है। कोई भी, जेयुक्सिस के चित्रो को देखकर यह नही जान सकता कि वह एक मूर्तिकार या शिल्पी भी था और पत्थर तथा सगमर्मर मे उसकी कुशलता रगो की कुशलता से कम न थी। चातुर्य और रुचि का जो प्रदर्शन हमारे सामने किसी विशेष कृति द्वारा होता है—उनका कृतिकार मे होना हम विना किमी हिचक के कह सकते है। कारण अवश्य ही परिणाम से आनुपातिक होना चाहिए, और यदि हम निश्चित रूप से उसका अनुपात स्थिर कर देते है तो उसमे ऐसे गुण नही पा सकते जो कि अधिक परिणामो की घोपणा या किसी अन्य योजना या क्रिया के सम्वन्ध मे अनुमान की योग्यता प्रदान करें। ऐसे गुण नि सदेह किसी न किसी तरह उस परिणाम की उत्पत्ति के आवश्यक तत्वो से परे है जिनका कि हम विचार करते है।

अतएव यह स्वीकार करने पर कि देवगण विश्व की सत्ता या व्यवस्था के कारण है, यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उमी मात्रा मे शक्ति, विवेक और शुभ गुणो से सम्पन्न है जितना कि उनकी कृति (अर्थात् विश्व) मे दृष्टिगत होता है, किन्तु इससे आगे कभी भी कुछ प्रमाणित नही किया जा सकता, यदि हम अपने तर्क और विचार के दोपो को ढँकने के लिए वहुत वढा-चढा कर कहने या वकवास की सहायता न लें। जितने भी गुणो के लक्षण वर्तमान मे प्रकट हो, उतने ही गुणो की उपस्थिति हमे स्वीकार करनी चाहिए। अन्य गुणो की मान्यता केवल मानी हुई चीज़ होगी, यह अति-मान्यता होगी कि दूरस्थ देश और कालावधि मे, ऐमे गुणो की अधिक सुरुचिपूर्ण उपस्थिति और ऐसे काल्पनिक सद्गुणो के अनुकूल व्यवस्था की योजना है या होगी। यह कभी भी मान्य नहीं किया जा सकता कि हम विश्व, परिणाम से ज्यूपिटर कारण की ओर आरोहण करें और फिर उस कारण से नये परिणामो

मा अनुमान लेकर नीचे उतरें, जैसे कि वर्तमान गुण अपने आप मे पूर्णत: सम्माननीय न हो जिसे कि हम उस देवता पर आरोपित न कर सके। चूकि कारण का ज्ञान केवल परिणाम से होता है, उन्हे एक दूसरे से बराबर सतुलित रखना चाहिए, कोई भी उससे परे किसी अन्य तथ्य स सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता, अथवा अन्य अनुमान और निष्कर्ष की आधारभूमि नही बना सकता।

आप प्रकृति मे विशेष स्थिति पाते है। आप उसका कारण या कर्ता ढूढते है। आप कल्पना करते हैं कि आप उसे पा गये है। फिर आप अपने मस्तिष्क की इस उपज से इतने सम्मोहित हो जाते है कि यह सोचना ही अकलपनीय समझने लगते है कि वह वतमान वस्तुस्थिति, जो कि कष्टप्रद और अव्यवस्थापूर्ण है, की तुलना मे एक उच्च और पूण स्थिति की रचना नही कर सकता। आप यह भूल जाते है कि यह सर्वोच्च विवेक और शुभता मात्र काल्पनिक या कम से कम विना किसी बौद्धिक आधार के है और यह कि आपके पास, अतिरिक्त उन गुणो के जो कि उससे अविर्भूत रचना मे यथार्थत प्रस्तुत और प्रदर्शित हैं, अन्य किन्ही गुणो का उस पर आरोप करने का कोई आधार नही है। अतएव, हे दार्शनिक गण! आप अपने देवताओ को प्रकृति की वतमान स्थितियो के अनुकूल बने रहने दीजिए और उन स्थितियों को स्वेच्छापूर्ण मान्यताओ द्वारा, जिन्हे कि आप अपने पूज्य देवो पर बडी लगन से आरोपित करते हुए परिस्थितियो को उनके अनुकूल ढालने की चेष्टा करते रहे है, बदलने का विचार न कीजिए।

हे एथेन्सवासियो! जब कि आपकी सत्ता से समर्थन प्राप्त पुजारी और कविगण बुराइयो और दुखों की वर्तमान दशा के पूर्वगामी स्वर्ण या रजत युग की चर्चा करते हैं, तब मै उन्हे बडे ध्यान से व नम्रतापूर्वक सुनता हूँ। किन्तु दार्शनिक गण जो कि सत्ता की अवहेलना और विवेक प्राप्ति का बहाना करते हैं, जब इन्ही नियमो पर बातचीत करते है, तो, मैं स्वीकार करता हूँ कि, उसी तरह नम्रता पूर्ण अविरोध और उनके उच्च विवेक युक्त होने की मान्यता प्रदान नही करता। मैं पूछता हूँ कि किसने उन्हें देवलोक मे पहुचाया? किसने उन्हे देवसभा मे प्रवेश की

अनुमति दी ? किसने उनके लिए भाग्य की पुस्तक खोल दी ? जिससे कि वे यह दावा कर सकें कि उनके देवगण वर्तमान स्थिति से परे उद्देश्यो की पूर्ति कर सकते है, या करेंगे ? यदि वे मुझे बताएँ कि वे बुद्धि की सीढी या उसकी सतत ऊचाइयो पर चढ कर और परिणामो से कारण का अनुमान कर वहाँ पहुँचे है, तो अभी भी मैं इस पर जोर देता हूँ कि बुद्धि की ऊचाइयो को उन्होने कल्पना के पर लगा कर सहायता की है, अन्यथा वे कभी भी अनुमान की पद्धति को ही बदल कर कारण से परिणाम का तर्क प्रस्तुत नही करते, वे पूर्वाग्रह वश कहते हैं कि पूर्णता प्राप्त देवो के लिए वर्तमान विश्व मे अधिक पूर्ण सृष्टि अधिक अनुकूल होगी और भूल जाते हैं कि इन अपवर्गीय देवो पर किसी पूर्णता या वर्तमान जगत् मे उपलब्ध गुणो के अतिरिक्त अन्य किसी गुण का आरोप करने का कोई प्रमाण नही है।

इसलिए प्रकृति के दोषप्रद प्रतीत होने की व्याख्या और देवताओ के महत्व की रक्षा के लिए ये सब व्यर्थ प्रयत्न होते हैं, जब कि हमे उन दोषो व अव्यवस्था की सत्यता को स्वीकार करना चाहिए, जो कि विश्व मे इतना अधिक व्याप्त है। हमे यह बताया जाता है कि पदार्थ के स्वयभू और अलक्ष्य गुण, या किसी सामान्य नियम का सचालन, या इसी तरह का अन्य कोई कारण, ही एक मात्र कारण है जो ज्यूपिटर की शक्ति व क्षमता को नियन्त्रित करता है, और उसे इतने अपूर्ण और दु खत्रस्त मानव-जाति तथा अन्य जीवो की उत्पत्ति के लिए विवश करता है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि, इन गुणो को उनकी अधिकतम प्रभावशीलता मे पूर्वाग्रह-पूर्वक मान लिया गया है। और, यदि ऐसी मान्यता हो तो मैं मानता हूँ कि शायद ये अनुमान अपूर्ण सृष्टि के सम्भव हल के रूप मे स्वीकार किये जा सकें। किन्तु फिर भी मैं पूछता हूँ, क्यों इन गुणो को मान लिया जाए, कारण मे ऐसे गुणो का आरोप क्यो किया जावे जो घटित परिणाम मे लक्षित नही हैं ? प्रकृति की व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने के लिए—जो कि, आपको जानना चाहिए, मात्र कल्पना हो सकती है और जिसका कि प्रकृति के क्रम मे कोई लक्षण नही पाया जाता—क्यों आप अपने मस्तिष्क को पीडा पहुचाते हैं ?

अतएव, धार्मिक मान्यताओ को जगत् की ज्ञात स्थिति की व्याख्या की एक विशेष स्थिति मात्र ही समझना चाहिए, किन्तु कोई भी न्याय-प्रिय व्यक्ति इससे एक तथ्य भी प्रमाणित करने और वर्तमान स्थिति को वढाने-चढाने या वदलने की बात कभी नही सोचेगा। यदि आप सोचते हैं कि वस्तुओ की स्थिति ऐसे कारणो से प्रमाणित करती है, तो आपको यह अधिकार है कि ऐसे कारणो की सत्ता से सबधित अनुमान आप कर सकें। ऐसे जटिल और अपवर्गीय विषयो मे प्रत्येक व्यक्ति को कल्पना और तर्क की स्वतत्रता होगी। किंतु यहाँ आपको ठहरना होगा। यदि आप वापस आयेंगे और अपने अनुमानित कारणो के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे कि सृष्टि-क्रम मे किसी अन्य तथ्य, जो कि विशेष गुणो की पूर्ण अभिव्यक्ति मे सहायक होगा, की भी उपस्थिति है या होगी, तो मैं आगाह करूगा कि आप प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित तर्क की विधि से वहक गये है, और कारण मे अवश्य ही ऐसे गुणो का समावेश कर दिया है जो कि परिणाम मे परिलक्षित नही होते, अन्यथा आप कभी भी, समझ मे आने योग्य तात्पर्य या औचित्य के साथ, परिणाम मे किसी भी अन्य चीज का समावेश कारण की महिमा वढाने के लिए नही करते।

तव कहाँ है मेरे सिद्धातो की अवाछनीयता जिन्हे कि मैं अपनी पाठशाला मे पढाता या फिर, जिन्हे मैं अपनी वाटिका मे जाँचता हूँ? अथवा इस पूरे प्रश्न मे ऐसा क्या है जिससे कि वाछनीय नैतिकता की सुरक्षा या सामाजिक व्यवस्था से किंचित भी सम्बन्ध लक्षित होता है?

आप कहते है कि मैं भावी-राज्य या विश्व के सर्वोच्च नियन्ता को अस्वीकार करता हूँ जो कि समस्त घटना चक्र को नियन्त्रित करते हैं और वुरे को उसके सव कामो मे कुप्रसिद्धि व निराशा द्वारा दड देते तथा अच्छे को उसके समस्त कार्यों मे सुयश व सफलता द्वारा पुरस्कृत करते है। किन्तु निश्चय ही मैं घटना चक्र को अस्वीकार नही करता जो कि प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख अन्वेषण व परीक्षण के द्वारा प्रस्तुत है। मैं मानता हूँ कि, प्रस्तुत वस्तु-स्थिति मे, वुराइयो की अपेक्षा सद्‌गुण ही अधिक शान्त विवेक का विषय है और जगत् से स्नेह सत्कार उसे ही अधिक मिलता है।

अनुमति दी ? किसने उनके लिए भाग्य की पुस्तक खोल दी ? जिससे कि वे यह दावा कर सकें कि उनके देवगण वर्तमान स्थिति से परे उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते है, या करेंगे ? यदि वे मुझे बताएँ कि वे बुद्धि की सीढी या उसकी सतत ऊचाइयो पर चढ कर और परिणामो से कारण का अनुमान कर वहाँ पहुँचे है, तो अभी भी मैं इस पर जोर देता हूँ कि बुद्धि की ऊचाइयो को उन्होंने कल्पना के पर लगा कर सहायता की है, अन्यथा वे कभी भी अनुमान की पद्धति को ही बदल कर कारण से परिणाम का तर्क प्रस्तुत नही करते, वे पूर्वाग्रह वश कहते हैं कि पूर्णता प्राप्त देवो के लिए वर्तमान विश्व मे अधिक पूर्ण सृष्टि अधिक अनुकूल होगी और भूल जाते हैं कि इन अपवर्गीय देवो पर किसी पूर्णता या वर्तमान जगत् में उपलब्ध गुणो के अतिरिक्त अन्य किसी गुण का आरोप करने का कोई प्रमाण नही है।

इसलिए प्रकृति के दोषप्रद प्रतीत होने की व्याख्या और देवताओं के महत्व की रक्षा के लिए ये सब व्यर्थ प्रयत्न होते हैं, जब कि हमे उन दोषो व अव्यवस्था की सत्यता को स्वीकार करना चाहिए, जो कि विश्व मे इतना अधिक व्याप्त है। हमे यह बताया जाता है कि पदार्थ के स्वयभू और अलक्ष्य गुण, या किसी सामान्य नियम का सचालन, या इसी तरह का अन्य कोई कारण, ही एक मात्र कारण है जो ज्यूपिटर की शक्ति व क्षमता को नियन्त्रित करता है, और उसे इतने अपूर्ण और दु खत्रस्त मानव-जाति तथा अन्य जीवो की उत्पत्ति के लिए विवश करता है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि, इन गुणो को उनकी अधिकतम प्रभावशीलता मे पूर्वाग्रह-पूर्वक मान लिया गया है। और, यदि ऐसी मान्यता हो तो मैं मानता हूँ कि शायद ये अनुमान अपूर्ण सृष्टि के सम्भव हल के रूप मे स्वीकार किये जा सकें। किन्तु फिर भी मैं पूछता हूँ, क्यो इन गुणो को मान लिया जाए, कारण मे ऐसे गुणो का आरोप क्यो किया जावे जो घटित परिणाम मे लक्षित नही हैं ? प्रकृति की व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने के लिए—जो कि, आपको जानना चाहिए, मात्र कल्पना हो सकती है और जिसका कि प्रकृति के क्रम मे कोई लक्षण नहीं पाया जाता—क्यों आप अपने मस्तिष्क को पीडा पहुचाते हैं ?

अतएव, धार्मिक मान्यताओ को जगत् की ज्ञात स्थिति की व्याख्या की एक विशेष स्थिति मात्र ही समझना चाहिए, किन्तु कोई भी न्याय-प्रिय व्यक्ति इससे एक तथ्य भी प्रमाणित करने और वर्तमान स्थिति को बढाने-चढाने या बदलने की बात कभी नही सोचेगा। यदि आप सोचते हैं कि वस्तुओं की स्थिति ऐसे कारणो से प्रमाणित करती है, तो आपको यह अधिकार है कि ऐसे कारणो की सत्ता से सबधित अनुमान आप कर सकें। ऐसे जटिल और अपवर्गीय विषयो मे प्रत्येक व्यक्ति को कल्पना और तर्क की स्वतंत्रता होगी। किंतु यहाँ आपको ठहरना होगा। यदि आप वापस आयेंगे और अपने अनुमानित कारणो के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे कि सृष्टि-क्रम मे किसी अन्य तथ्य, जो कि विशेष गुणो की पूर्ण अभिव्यक्ति मे सहायक होगा, की भी उपस्थिति है या होगी, तो मैं आगाह करूंगा कि आप प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित तर्क की विधि से बहक गये हैं, और कारण मे अवश्य ही ऐसे गुणो का समावेश कर दिया है जो कि परिणाम मे परिलक्षित नही होते, अन्यथा आप कभी भी, समझ मे आने योग्य तात्पर्य या औचित्य के साथ, परिणाम मे किसी भी अन्य चीज का समावेश कारण की महिमा बढाने के लिए नही करते।

तब कहाँ है मेरे सिद्धातो की अवाछनीयता जिन्हे कि मैं अपनी पाठशाला मे पढाता या फिर, जिन्हे मैं अपनी वाटिका मे जाँचता हूँ? अथवा इस पूरे प्रश्न मे ऐसा क्या है जिससे कि वाछनीय नैतिकता की सुरक्षा या सामाजिक व्यवस्था से किंचित भी सम्बन्ध लक्षित होता है?

आप कहते हैं कि मैं भावी-राज्य या विश्व के सर्वोच्च नियन्ता को अस्वीकार करता हूँ जो कि समस्त घटना चक्र को नियन्त्रित करते है और बुरे को उसके सब कार्मो मे कुप्रसिद्धि व निराशा द्वारा दड देते तथा अच्छे को उनके समस्त कार्यों मे सुयश व सफलता द्वारा पुरस्कृत करते हैं। किन्तु निश्चय ही मैं घटना चक्र को अस्वीकार नही करता जो कि प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख अन्वेषण व परीक्षण के द्वारा प्रस्तुत है। मैं मानता हूँ कि, प्रस्तुत वस्तु-स्थिति मे, बुराइयो की अपेक्षा सद्गुण ही अधिक शान्त विवेक का विषय है और जगत् मे स्नेह सत्कार उसे ही अधिक मिलता है।

लिए। घटनाओ की अनुभवगत शृखला वह वृहत् मापदड है जिसके द्वारा हम सब अपने क्रिया कलापो को व्यवस्थित करते है। इस सभा (सीनेट) या (दर्शन के) क्षेत्र मे इससे अधिक और किसी का सहारा नही लिया जा सकता। पाठशाला या निजी स्थलो पर इससे अधिक सुनना-सुनाना नही चाहिए। किन्तु अफसोस हमारी बद्धि इन सीमाओ का उल्लघन करती है, चू कि वे हमारी कल्पना-प्रियता के लिए अत्यन्त सकीर्ण है। जब हम प्रकृति-क्रम से अपना विचार आरभ कर एक विशेष-विवेक-युक्त कारण का अनुमान करते है, जो कि विश्व-व्यवस्था का प्रारभ से ही व्यवस्थापक रहा है, जो कि अनिश्चित और साथ-साथ अनुपयोगी भी है। यह अनिश्चित है, क्योकि प्रस्तुत विषय मानव-अनुभव से नितात परे है। यह अनुपयोगी है, क्योकि इस कारण सम्बन्धी हमारा ज्ञान चू कि प्रकृति क्रम पर आधारित है, सही विचार के नियमो के अनुसार हम कारण से पुन किसी नये अनुमान की और लौट नही सकते, या प्रकृति के सामान्य और अनभवगत् क्रम मे कुछ जोड नही सकते, व्यवहार व आचरण के नये सिद्धात स्थापित नही कर सकते।

"मैं देखता हू।" जब उसे अपना भाषण समाप्त करते हुए पाया तो मैंने कहा, कि "तुमने पुरातन पथी दुप्टता की बनावट की अवहेलना नही की और जैसे कि अपनी स्वेच्छा से मुझे जनता की जगह रख, तुमने उन सिद्धातो को अपनाकर मुझे अपने पक्ष मे करने की कोशिश की, जिनसे जैसा कि तुम जानते हो, मैं हमेशा एक विशेष लगाव प्रदर्शित करते आया हू। किन्तु तुम्हे अनुभव को इस ओर अन्य सभी तथ्य के प्रश्नो के निर्णयो का एकमात्र मापदड, जो कि मेरी समझ से औचित्य पूर्ण है, बनाने की स्वतत्रता प्रदान करते हुए भी यद्यपि मैं सदेह नही करता किन्तु सम्भव है कि उन्ही अनुभवो द्वारा जिन पर कि तुम्हारे सब विचार आधारित है, वे सब तर्क व्यर्थ सिद्ध किए जा सकें जो कि तुमने एपिक्यूरस से मुंह से निकलवाये हैं। जैसे कि तुमने एक अर्ध निर्मित इमारत देखी—ईंटो, पत्थरो और गारे के ढेर तथा गृह-निर्माण के समस्त उपकरणो से घिरी हुई, क्या तुम इस परिणाम से यह अनुमान नही कर सकते कि यह एक योजना और बुद्धि की कृति है? और क्या तुम इस अनुमानित कारण से

पुन परिणाम मे नये तथ्यो को सम्मिलित करने के अनुमान की ओर नही लौट सकते तथा यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि वह इमारत जल्दी ही पूरी होने वाली है और उसमे भविष्य की वह प्रोज्ज्वलता आने वाली है जो कला द्वारा उसे प्रदान किया जावे? यदि तुम समद्रतट पर किसी व्यक्ति का एक ही पद-चिन्ह देखो तो तुम यह निष्कर्ष निकालोगे कि कोई व्यक्ति उधर से गुजरा है और तब वह यहाँ दूसरे पैर का निशान भी छोड गया था जो कि अब बालू या जल-प्रवाह के कारण—मिट गया है। तब तुम विचार की इसी पद्धति का प्रकृति क्रम मे क्यो निषेध करते हो? समझ लो कि विश्व और वर्तमान जीवन एक अधूरी इमारत है, जिसमे तुम एक उच्च विवेक का अनुमान कर सकते हो और उस उच्च विवेक से, जो कि कोई भी चीज अधूरी नही छोड सकती, विचार करते हुए क्यो नही तुम एक अधिक सुगठित योजना या व्यवस्था का अनुमान कर सकते, जिसकी पूर्णता भविष्य के किसी दूरस्थ देश व काल मे होगी? क्या विचार की ये पद्धतियाँ एकदम समान नही हैं? फिर, किस बहाने तुम एक का निषेध करते हुए दूसरे को अपना सकते हो?"

उसने उत्तर दिया, मेरे निष्कर्षो मे इस भिन्नता का पर्याप्त आधार है—प्रस्तुत विषयो की असाधारण असमानता। मानवीय कला और विवेक की कृतियो मे परिणाम के कारण और पुन कारण से परिणाम की ओर गति का विचार औचित्य पूर्ण हो सकता है, जिसके कि परिणाम के सम्बन्ध मे नये अनमान किये जा सकें जो कि उस पर शायद घटित हो चुके हो या अभी घटित होने वाले हो। किंतु विचार की इस पद्धति का आधार क्या है? स्पष्टत यह कि मनुष्य एक अस्तित्वशील प्राणी है, जिसके लक्ष्यो से हम परिचित हैं और जिसकी योजना व रुचि मे प्रकृति के उन नियमो के अनुसार जिन्हे कि उसने ऐसे प्राणियो पर शासन के लिए रचे है—एक विशेष सम्बन्ध व क्रमबद्धता है। इसलिए जब हम पाते हैं कि कोई काय मनुष्य के चातुर्य और उद्योग से नि सृत हुआ है, हम इस सबध मे कि उसमे क्या अपेक्षा की जानी चाहिए सैकडो अनुमान लेते हैं, चू कि हम इस प्राणी के स्वभाव से विभिन्न प्रकार से परिचित होते है, और इन सब अनुमानो का आधार होगा हमारे अनुभवो का निरीक्षण। किन्तु

यदि हम मनुष्य को उसके केवल एक कार्य या कृति से ही जानते होते जिसे हम जाँचते, हमारे लिए इस तरह का विचार करना असम्भव होता, क्योकि उन समस्त गुणो का हमारा ज्ञान जिसे कि हम उस पर आरोपित करते हैं, उस दशा मे चूकि एक ही कृति से अनुमानित होता, यह असम्भव होता कि वह उससे परे किसी और इगित कर सकता या किसी नये अनुमान का आधार बनता। बालू पर एक पैर का निशान, जब मात्र यही विचार की सामग्री हो, केवल इतना ही प्रमाणित करता है कि उसके अनुरूप कोई चीज़ थी कि उसे पैदा किया किन्तु मनुष्य के पैर का इस तरह का एक चिन्ह, हमारे अन्य अनुभवो से, यह प्रमाणित करता है कि शायद वहाँ दूसरा पैर भी था जो अपना भी निशान वहाँ छोड गया था, यद्यपि वह समय या अन्य घटना के फलस्वरूप प्रभाव ग्रस्त हो गया। यहाँ हम परिणाम से कारण की ओर बढते हैं, कारण से पुन नीचे उतर कर सम्भव परिणामो पर विचार करते हैं, किन्तु यह उसी पूर्व सरल विचार शृखला की सतत शाखा नही है। इस स्थिति मे हमने उन सैकडो अन्य अनुभवो व निरीक्षणो को सम्मिलित किया है जिनके बिना कि इस विचार पद्धति को अवश्य ही दोषपूर्ण और बकवास समझा जाना चाहिए।

यह स्थिति हमारे द्वारा प्रकृति के क्रिया-कलापो से किये गये अनुमान की तरह नही है। हमे देवता का ज्ञान केवल उसकी कृतियो से है, और विश्व मे वह एकमेव सत्ता है, किसी जाति या वर्ग मे नही पहिचाना जाता, जिसके कि अनुभव गत गुणो या लक्षणो द्वारा समरूपता के आधार पर हम उसमे किसी गुण का लक्षण का अनुमान कर सकें। जैसे कि जगत् में बौद्धिकता और शुभता प्रकट है अत हम बुद्धि और शुभ का अनुमान करते हैं और चूकि ये एक सीमा तक ही पूर्णता दिखाते हैं, हम एक विशेष सीमा का ही अनुमान करते है जो कि हमारे द्वारा जाँचे गये परिणामो मे बिल्कुल ठीक उतरता है। किन्तु इससे अन्य गुणो या इस सीमा से अधिक इन्ही गुणो के अनुमान की मान्यता के लिए हम किसी भी तर्क पूर्ण विचार के नियमो द्वारा अधिकारी नही है। इस तरह, इस प्रकार किसी मान्यता के अधिकार पत्रक के बिना, हमारे लिए यह असम्भव है कि हम कारण से विचार आरम्भ करें या जो कुछ हमारे निरीक्षण मे तात्कालिक

रूप से प्रस्तुत है उससे परे परिणाम मे किसी परिवतन का अनुमान करे। इस दैवी सत्ता द्वारा उद्भूत अधिक शुभ, का और अधिक परिमाण मे प्रमाण दे न्याय और समानता के आधिक्य पक्ष मे पुरस्कार और दड का और अधिक पक्षपातहीन वितरण होना चाहिए। प्रकृति क्रम म मान्यतापूवक जोडी गयी कोई भी चीज़ प्रकृति कर्त्ता के गुणो मे अभिवृद्धि करती है, और परिणाम वह किसी कारण या विचार की दृष्टि से आधारहीन होती है, सदैव एक मोटी कल्पना या पूव कल्पना के अतिरिक्त कुछ नही होती।[1]

---

१ मैं सोचता हूँ कि इसे सामान्यत एक सिद्धान्त के रूप मे स्थापित किया जा सकता है कि जहाँ कोई कारण केवल उसके विशिष्ट परिणामो द्वारा ही जाना जाता है, उस कारण से नये परिणामो का अनुमान अवश्य ही असम्भव होना चाहिए क्योंकि वे गुण जो कि पूव ज्ञात परिणामो के साथ-साथ नये परिणामो की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं, अवश्य ही पूर्व ज्ञात गुणो की अपेक्षा, जिनसे कि वह परिणाम उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा हमे कारण का ज्ञान होता है, भिन्न या अधिक होना चाहिए। इस तरह, इन गुणो की उपस्थिति को मानने का कोई आधार हमारे पास नहीं है। यह करने से कि नये परिणाम उसी शक्ति की जिसे कि हम पूर्व ज्ञात परिणामो द्वारा जानते हैं, बनावट (प्रकृति) से ही नि सृत होते हैं, कठिनाई दूर नहीं होती। क्योंकि यदि ऐसी स्थिति भी मान ली जाये, जो कि शायद ही मानी जा सकती है, एक समान शक्ति की ही सततता व क्रियाशीलता है। क्योंकि यह असम्भव है कि वह बिल्कुल समान रह सकती है। तो मैं कहूँगा कि एक समान शक्ति की यह क्रियाशीलता देश और काल की विभिन्न स्थितियो मे एक अत्यन्त पक्षपातपूर्ण मान्यता है, जिसकी उपस्थिति के कोई लक्षण उन परिणामो मे सम्भवत नहीं हो सकते जिनसे कि कारण सम्बन्धी हमारा समस्त ज्ञान मूलत मिल सका है। अनुमानित कारण को ज्ञात परिणाम से बिल्कुल सतुलित होने दीजिए (जैसा कि होना चाहिए) और तब यह असम्भव है कि वह ऐसे किसी भी गुण से युक्त हो सकता है जिससे कि नये या भिन्न परिणामों का अनुमान किया जा सके।

इस विषय मे हमारी त्रुटियो और हमारे अटकलो के सीमित अधिकार पत्र का बडा कारण यह है कि हम परोक्ष मे अपने आपको सर्वोच्च सत्ता की जगह समझने लगते है और निष्कर्ष निकालते है कि वह प्रत्येक स्थिति मे, उसी तरह व्यवहार करेगा जैसा कि हम उसकी जगह मे होने पर विवेकयुक्त व न्यायपूर्ण समझ कर करते। किन्तु इसके अतिरिक्त भी क्या साधारण क्रम ही हमे यह विश्वास दिला सकता है कि प्राय प्रत्येक उन सिद्धान्तो व नीतियो से परिचालित है जो कि हमारे सिद्धान्तो व नीतियो से बहुत भिन्न है, इसके सिवाय मै यह भी कहता हूँ कि मनुष्यों की योजनाओ और लक्ष्यो से एक सत्ता का विचार जो कि भिन्न है और अधिक उच्च है, तुलना के समस्त नियमो के विपरीत है। मानव प्रकृति मे योजनाओ और लक्ष्यो की एक विशिष्ट अनुभवगत क्रमबद्धता है,जिसमे कि जब हम किसी तथ्य से अनुमान कर मनुष्य का लक्ष्य जान लेते हैं, यह उचित है कि हम उस अनुभव के आधार पर अन्य का अनुमान करें और उसके भूत व भविष्य के आचरण के सम्बन्ध मे अनुमानो की एक लम्बी शृंखला का निर्माण कर लें। किन्तु विचार की इस पद्धति का उस सत्ता के सदर्भ मे कोई स्थान नही है जो कि दूरस्थ और अनुभवातीत है, जिसकी की ससार की किसी भी चीज से समानता उससे भी कम है जितनी कि सूर्य की मोमबत्ती से हो सकती है, और जो कि केवल कुछ हल्के चिन्हों और लक्षणो से स्व-अन्वेषण कर पाता है, जिनसे परे कोई गुण या पूर्णता का उस पर आरोप करने का हमे कोई अधिकार नही है। जिसे हम एक उच्च पूर्णता कहकर कल्पना करते है वह यथार्थ मे एक दोष हो सकता है। या यदि इतनी अधिक पूर्णता है जिसका कि सर्वोच्च सत्ता पर आरोप किया जावे, जो कि उसकी कृति (प्रकृति) मे वस्तुत पूर्ण रूप से प्रयुक्त नही हो पाया प्रतीत होता है, तो यह एक सबल तर्क और अच्छे दर्शन की अपेक्षा चापलूसी और मिथ्या प्रशसा का स्वाद अधिक देता है। अतएव विश्व के समस्त दर्शन और सर्व धर्म—जो कि दर्शन की एक शाखा विशेष के अतिरिक्त और कुछ नही हैं—हमे कभी भी सामान्य अनुभव की परिधि से नही ले जा सकते, या आचरण और व्यवहार के ऐसे मापदण्ड नही दे सकते जो कि सामान्य जीवन के चिंतन से प्राप्त विचारो से भिन्न

हो। धार्मिक मान्यताओ से कोई नया तथ्य अनुमानित नही किया जा सकता किसी घटना का भविष्य कथन या भविष्यदर्शन नही हो सकता, क्रिया और निरीक्षण से ज्ञात पुरस्कार और दड के अतिरिक्त किसी भी पुरस्कार या दड की अपेक्षा या भाँति नही हो सकती। इसलिए एपिक्यूरिस के लिए मेरे द्वारा की गयी क्षमा प्राथना अभी सुदृढ और सतोषजनक प्रतीत होगी, न ही समाज की राजनैतिक रूचियो का पारस्परिक और धर्म-सवधी दाशनिक विवादो से कोई सवध होगा।

मैंने उत्तर मे कहा कि एक स्थिति तब भी शेष रह जाती है जिस पर कि तुम ध्यान देते प्रतीत नही होते। यद्यपि मैं तुम्हारी प्रतिज्ञाओ को मान लूगा, उनसे निकाले गये तुम्हारे निगमन को मैं अस्वीकार करूँगा। तुमने निष्कर्ष स्थापित किया कि धार्मिक सिद्धान्त और तर्क विचार का जीवन पर कोई प्रभाव नही हो सकता, क्योकि उनका कोई प्रभाव नही होना चाहिए, यह न विचार करते हुए कि अन्य व्यक्ति तुम्हारी तरह तर्क नही करते और दैवी सत्ता पर विश्वास के आधार पर बहुत से निष्कर्ष निकाल लेते हैं और प्रकृति सामान्य क्रम मे व्यक्त है यह मान लेते हैं कि देवता बुराई को दड और अच्छाई को पुरस्कृत करेगा। उनका तर्क न्यायपूवक है या नही—इसका कोई प्रश्न नही है। उनके जीवन पर तो उसका प्रभाव बराबर होता ही है। अत जो उनकी ऐसे पक्षपातपूर्ण मान्यताओ मे दखल देने की चेष्टा करते हैं, उन्हे मैं अच्छे तार्किक के रूप मे भले ही जानता होऊँ, अच्छे नागरिक या राजनीतिज्ञ के रूप मे मान्य नही कर सकता, क्योकि वे मनुष्यो को उनकी अध प्रवृत्तियो के बन्धन से मुक्त कर देते हैं और सामाजिक नियमो के उलघन को एक तरह से अधिक सरल और आसान बना देते हैं।

इसके बावजूद भी मैं शायद स्वतत्रता के पक्ष मे तुम्हारे निष्कर्ष से सहमत हो सकता हूँ, किन्तु उन प्रतिज्ञाओ या आधारभूत मान्यताओ से असपृक्त रहकर जिन पर कि तुम उसकी आधार शिला रखते हो। मैं समझता हूँ कि राज्य को दर्शन के समस्त सिद्धान्तो के प्रति सहनशील होना चाहिए, और न ही ऐसा कोई उदाहरण है जिसमे सरकार को अपनी दार्शनिक रुचियो के कारण कष्ट हुआ हो। दार्शनिको मे कोई उत्साह

हम कारण से पुन परिणाम की ओर कैसे लौट सकते हैं, तथा परिणाम सबधी अपनी अवधारणा पर विचार करते हुए कारण मे कोई परिवर्तन या वृद्धि का अनुमान कैसे कर सकते हैं।

हवाँ परिच्छेद

बौद्धिक अथवा सशयात्मक दर्शन

ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण और अनीश्वरवादियो के दोषपूर्ण अनुमानों के खडन के सम्बन्ध मे जितना अधिक दार्शनिक विचार-विमर्श किया गया है, उतना अन्य किसी विषय पर नही, किन्तु फिर भी अधिकाश धार्मिक चितक अभी भी यह विवाद करते है कि कोई ऐसा भी अधा हो सकता है कि चिन्तन मे अनीश्वरवादी हो। इस वैपरीत्य को समुचित रूप से कैसे समझा जावे? वे साहसी और भद्र अन्वेषक, जो कि शैतानो और भयकर जीवो के अस्तित्व का कोई सन्देह ही मन मे नही लाते।

सन्देहवादी धर्म का दूसरा शत्रु है जो कि स्वभावत समस्त दार्शनिकों व गभीर चिन्तको मे रोष पैदा करता है, यद्यपि आज तक कोई ऐसा आदमी नहीं हुआ जो इन विचित्र प्राणियो से मिलता, या किसी ऐसे व्यक्ति से चर्चा करता जिसके किसी भी विषय, कर्म या चिन्तन, पर कोई विचार या सिद्धान्त न हो। इसलिए, अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न उठता है—किसी भी सन्देहवादी होने का अर्थ क्या है? और, सन्देह तथा अनिश्चितता के इन दार्शनिक सिद्धान्तो को किस सीमा तक ले जाना सम्भव है?

सन्देहवाद का एक प्रकार, समस्त दर्शन व अध्ययन का पूर्वगामी है, जिस पर कि डेकाते और अन्यो के द्वारा भूलो और दोषपूर्ण निर्णयो के विपरीत सर्वोच्च उपाय के रूप में जोर दिया गया है। यह एक सामान्य सन्देह की पुष्टि करता है, न केवल हमारी पूर्वधारणाओ और सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे, वरन् हमारे ज्ञान स्रोतो के सम्बव मे भी, जिनकी सत्यता के मम्बन्ध मे उनके अनुसार, कुछ मूल सिद्धान्तो मे जो कि सम्भवत दोषयुक्त और त्रुटिपूर्ण नही हो सकते, तर्क विचार का हमे

ही आश्वस्त हो जाना चाहिए। किन्तु न तो ऐसे सिद्धान्त हैं—जो कि अन्य स्वयसिद्ध और विश्वासप्रद सिद्धान्तो की अपेक्षा विशेषता लिए हो —या यदि हो भी, तो विना उन्ही साधनो के उपयोग के वे एक कदम भी आगे नही बढ सकते जिन्हें कि इस सदभ मे पहले ही दोपपूर्ण बताया जा चुका है। इसलिए डेकाते की सदेह वृत्ति अगर किसी व्यक्ति द्वारा सम्भाव्य भी हो, जैसा कि स्पष्टत नही है, नितान्त रूप से असाध्य है, और कोई भी तर्क विचार कभी भी हमे किसी भी विपय पर सतोष और विश्वास की स्थिति तक नही पहुँचा सकता।

फिर भी, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार का सन्देहवाद जब कम तीव्र हो, वडे ही विचार पूर्ण ढग से समझा जा सकता है, और दर्शन के अध्ययन के लिए, निर्णयो की पक्षपात ही नया कायम रखते हुए तथा प्रवृत्तिगत पक्षपात को निर्वल वनाते हुए, जिन्हे कि हमने शिक्षण या तर्कहीन मान्यताओ के वल पर स्वीकार किया हो, एक आवश्यक शैक्षणिक तैयारी है। स्पष्ट और स्व-प्रमाणित सिद्धान्तो से आरम्भ करना, आशकायुक्त और सावधान हो आगे वढना, अपने निर्णयो को वार-वार जाँचना, तौलना और उनके सव परिणामो को सही ढग से विचारना—यद्यपि इन साधनों द्वारा हम अपने सिद्धान्तों मे धीमे व कम प्रगति करेंगे—ये ही वे पद्धतियाँ है जिनके द्वारा हम सत्य प्राप्ति की आशा कर सकते हैं, और अपने निर्णयों मे एक समुचित स्थायित्व व निश्चितता पा सकते हैं।

एक दूसरे प्रकार का भी सन्देहवाद है, विज्ञान और अन्वेषण के परिणाम भूत, जव यह समझा जाता है कि मनुष्यो ने या तो अपने मानसिक पहलुओ की नितान्त दोपपूर्णता को ढूंढ निकालना है या फिर वे उन विचित्र विचार विपयो मे, जिनमे कि वे सलग्न हैं, किसी भी निश्चित निर्णय पर पहुँचने के अयोग्य हैं। यहाँ तक कि कुछ दार्शनिको द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी इस विपाद मे घसीटी जाती है और सामान्य जीवन की पराभौतिक विज्ञान और ईश्वरवाद के गहरे सिद्धान्तो और निष्कर्पों पर। चूकि ये विरोध-युक्त सिद्धान्त यदि उन्हे सिद्धान्त कहा जा सके, कुछ दार्शनिको के चिन्तन मे मिला करते हैं, और वहुतों मे

उनका खडन मिलता है, वे स्वभावत हमारी जिज्ञासा जागृत करते हैं और हमे उन तर्कों की जाँच-परख के लिए वाध्य करते है जिन पर कि वे आधारित है।

इन्द्रियो के विरुद्ध सदेहवादियो के द्वारा प्राय युगो से दिये जाने वाले प्रमाणो के जीर्ण विषय पर मुझे अधिक जोर देने की आवश्यकता नही, जैसे कि अगणित अवसरो पर हमारी इद्रियो की अपूर्णता और दोपपूर्णता पर आधारित प्रमाण, पानी मे पतवार का टेढा-मेढा दिखाई देना, विभिन्न दूरियो के अनुसार वस्तुओ से कई पहलुओ का प्रत्यक्षीकरण एक आँख को दवाने पर वस्तुओ का दो दीखना और इसी तरह के अन्य दृश्य सबधी। निस्सदेह, ये सदेहवादी केवल यह प्रमाणित करने मे समर्थ है कि आतरिक रूप से केवल इद्रियो पर ही निर्भर नही रहा जा सकता, इसलिए हम अवश्य ही इन्द्रिय-जन्य प्रमाण को वुद्धि द्वारा और उपकरण की प्रकृति, वस्तुओ की दूरी और इन्द्रिय शक्ति के विचार द्वारा सुधारें, जिसके कि अपने क्षेत्र मे वे सत्यता व असत्यता के उचित मापदड वन सके। इन्द्रियो के विरुद्ध अन्य अधिक योग्य प्रमाण भी है जो कि इतना सरल समाधान स्वीकार नही करते।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य गण एक स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति वश या मौलिक रूप से अपनी इन्द्रियो पर आस्था रखते है, और विना किसी तर्क विचार या वुद्धि के उपयोग के पहले ही हम एक वाह्य जगत् मान लेते हैं जो कि हमारे प्रत्यक्षीकरण पर आधारित नही हैं, तथा जो समस्त ज्ञान-युक्त प्राणियों की अनुपस्थिति या समाप्ति मे भी यथावत् सतावत् रहेगा। यहाँ तक कि पशु-जगत् भी इसी विश्वास मे परिचालित है और अपने विचारो योजनाओं और क्रियाओ मे वाह्य वस्तुओ के प्रति इस आस्था को कायम रखता है।

यह भी निश्चित दीखता है जव प्रकृति की इस अधी और शक्तिशाली मलप्रवृत्ति का लोग अनुगमन करते हैं तो यह मान लेते हैं कि इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिविम्व ही वाह्य वस्तुएँ हैं और कभी भी यह विचार मे नही लाते कि एक दूसरे का केवल प्रतिविम्व मात्र है। यह मेज ही, जिसे कि हम सफेद देखते हैं और जिसे हम कठोर महसूस करते हैं, इसका

प्रत्यक्षीकरण करने वाले हमारे मस्तिष्क से बाह्य समझ ली जाती है। हमारी अनुपस्थिति उसे अस्तित्व विहीन नही बनाती। वह अपने अस्तित्व को उन बुद्धिजीवियो की स्थिति से स्वतत्र रखती है जो कि उसका प्रत्क्षीकरण या चिन्तन करते हैं।

किंतु सभी मनुष्यो की यह प्राथमिक और सामान्य भावना शीघ्र ही लेशमात्र दशन से नष्ट हो जाती है,जो कि यह बताता है कि मस्तिष्क के सम्मुख एक प्रत्यक्ष या प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी प्रस्तुत नही होती और इन्द्रियाँ केवल अतर्गामी स्रोत हैं जिनके द्वारा ये प्रतिबिम्ब मस्तिष्क और पदार्थ के बीच बिना किसी प्रकार के तात्कालिक सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता के आते है। यह मेज, जैसे-जैसे हम उसके दूर जाते हैं, छोटा होता दिखाई देता है, किंतु (यथाथ) मेज, जो कि हमसे स्वतत्र रुप से अस्तित्ववान् है, वस्तुत किसी से नही गुजरता। अत जो मस्तिष्क के सामने या वह उसके प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नही। ये निसन्देह के अनुभव है, और कोई भी मनुष्य जो इसका अवलोकन करता है कभी सन्देह नही कर सकता कि जब हम 'यह घर' और 'वह वृक्ष' कहकर अस्तित्वो का विचार करते हैं, वह सब मस्तिष्क के प्रत्यक्षो और एक रूप व स्वतत्र अन्य अस्तित्वो की परिवर्तनशील प्रतिछायाओ के अतिरिक्त और कुछ नही होता।

इस तरह, यहाँ तक तर्क विचार द्वारा प्रकृति की प्राथमिक मूल-प्रवृत्तियो मे विरोध दर्शाना या उनसे दूर जाना और अपनी इन्द्रियो की प्रामाणिकता के विषय मे एक नये मत का अवलम्ब आवश्यक होता है। किन्तु यहाँ दर्शन अपने आपको बडी उलझन मे पाता है, जब कि वह इस नये मत को न्यायपूर्ण ढग से प्रमाणित करने की चेष्टा करे और सन्देह-वादियो द्वारा प्रस्तुत अपवादो व दोषो को दूर करने का यत्न करे। वह अब प्रकृति के त्रुटिविहीन और अपराजेय मूल प्रवृत्ति की दुहाई नही दे सकता, क्योकि वह हमे एक सर्वथा भिन्न मत की ओर ले जाता है जिसे कि दोषयुक्त व त्रुटिपूर्ण ही समझा जाता है और इस छद्मवेशी दार्शनिक मत को साफ सुथरे और विश्वसनीय तर्क या किसी भी तरह की तर्क-

शृंखला से न्याययुक्त प्रमाणित करने का यत्न मानवीय योग्यता की समस्त शक्ति को लाँघ जाता है।

किस तर्क द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि मस्तिष्क का प्रत्यक्षीकरण वाह्य वस्तुओं का ही होता है जो कि उनसे विल्कुल भिन्न है, यद्यपि उनसे कुछ मेल खाते हुए (यदि यह सभव हो) और मात्र मस्तिष्क की शक्ति से, या किसी अदृश्य व अज्ञात चेतना से या किसी अन्य स्रोत से जो कि और भी अज्ञात हो, उत्पन्न नही हो सकते ? वस्तुत यह स्वीकार किया जाता है कि इनमे से कई प्रत्यक्ष यथा स्वप्न, उन्मादादि रोगो मे, किसी वाह्य कारण से उत्पन्न नही होते। और इससे अधिक और कोई चीज व्याख्याविहीन नही हो सकती कि शरीर मस्तिष्क पर इस तरह से, यहाँ तक कि विपरीत स्वभाव समझे जाने वाले तत्व के सम्मुख, अपना प्रतिविम्ब प्रस्तुत कर सके।

यह एक वस्तु स्थिति का प्रश्न है कि क्या ज्ञानेन्द्रियो के प्रत्यक्ष वाह्य वस्तुओ से उत्पन्न होते हैं जो कि उनसे मिलते-जुलते है इस प्रश्न का निर्धारण कैसे हो सकता है ? निश्चय ही, अनुभव द्वारा। किन्तु यहाँ अनुभव निश्चित रूप से वाक्विहीन है और होना चाहिए। मस्तिष्क के सम्मुख प्रत्यक्षो के अतिरिक्त और कुछ भी उपस्थित नही और इनके वस्तुओ के साथ सम्वन्ध के अनुभव की कोई सम्भावना नही। अत ऐसे सम्वन्ध की मान्यता तर्क से विल्कुल आधारहीन है।

इन्द्रियो की नित्य सत्यता को प्रमाणित करने के लिए सर्वोच्च सत्ता की नित्य सत्यता का आश्रय लेना अवश्य ही एक वहुत वडा अपेक्षित वृत्त वनाना है। यदि उसकी नित्य सत्यता इस विषय से थोडा भी सम्वन्वित है, हमारी इन्द्रियाँ विलकुल त्रुटिविहीन होनी चाहिए, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि वे कभी धोखा दे सकें। इसके अतिरिक्त यदि कभी वाह्य जगत् पर भी प्रश्न उठा, हम उस सत्ता के अस्तित्व और उसके किसी भी गुण को प्रमाणित करने की दिशा मे कोई तर्क पाने में असमर्थ रहेंगे।

इसलिए यह एक ऐसा विषय है जिसमे स्पष्ट और अधिक दार्शनिक सदेहवादी हमेशा विजयी रहेगे—जव वे मानवीय ज्ञान और अन्वेषण

से सम्वन्धित समस्त विपय मे एक सामान्य सन्देह प्रस्तुत करने का यत्न करेंगे। वे कह सकते हैं कि इन्द्रियो की नित्य सत्यता स्वीकार करने मे क्या ? यदि प्रकृति की मूल प्रवृत्तियो और शक्तियो का अनुगमन करते है। किन्तु यह तो आपको केवल यही विश्वास दिलाता है कि प्रत्यक्ष और सवेदन उद्भूत प्रतिविम्ब ही वाह्य वस्तु है। क्या आप इस वौद्धिक मान्यता को, कि प्रत्यक्ष किसी वाह्य की प्रतिछाया मात्र है ग्रहण करने के कारण, इस सिद्धात को अमान्य करते है ? यहा आप अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियो और फिर भी अपनी वुद्धि को सतुष्ट करने मे असमथ है, जो कि अनुभव से ऐसा कोई विश्वसनीय तर्क नही पाता जिससे कि वह प्रत्यक्ष वाह्य वस्तुओ से सम्वन्धित है पर प्रमाणित कर सके।

इसी तरह का एक सन्देहवादी विपय अत्यधिक विकसित दर्शन से भी प्रत्युत्पन्न है जो कि हमारे ध्यान दिये जाने योग्य है—यदि ऐसे तर्क व विचारो को ढूँढने के लिए गोता लगाना आवश्यक है जो किसी गम्भीर उद्देश्य के लिए वहुत ही कम उपयोगी हैं। आधुनिक अन्वेपको द्वारा यह सामान्यत स्वीकार किया जाता है कि वस्तुओ के सभी अनुभवगत गुण जैसे कडापन, नर्मपन, ताप, ठडापन, सफेदी, कालापन आदि केवल पश्चात्गामी हैं और वस्तुओ के नही वरन् मस्तिष्क के ही आकार-प्रकार विहीन वस्तु सम्वन्धहीन प्रत्यक्ष है। यदि पश्चात्गामी गुणो के वारे मे यह स्वीकार किया जाता है, यही वात विस्तार तथा सुगढता के प्राथमिक या पूर्वगामी गुणो पर भी अवश्य ही लागू होना चाहिए, नही ये इन गुणो से नाम के सम्वन्ध मे कोई अधिक अधिकार रखते हैं। विस्तार का प्रत्यय चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय से ही प्राप्त किया गया है, और यदि इन्द्रियनुभवगन समस्त गुण केवल मस्तिष्क मे ही तो, यही अनुभव विस्तार के प्रत्यक्ष का भी होगा जो कि पूणत अनुभवगत या पश्चात्गामी गुणो के प्रत्ययो पर आधारित है। इस निष्कर्ष से हम वच नही सकते किन्तु यह दावा कि प्राथमिक गुणो के प्रत्यय नि ? द्वारा प्राप्त है एक ऐसा विचार है जिसे यदि सही ढग से जाचे तो वुद्धि के समक्ष अग्राह्य और वेतुका पायेंगे। ऐसा विस्तार जो कि न तो स्पर्श्य, न ही दृश्य हो सम्भवत वुद्धि ग्राह्य नही और ऐसा स्पर्श तथा दृश्य विस्तार जो न तो कठोर है न नर्म, न काला

है न सफेद, उसी तरह मानव ज्ञान से परे है। किसी भी व्यक्ति को एक सामान्य त्रिभुज का विचार करने दीजिए जो कि न तो समभुज है न असमभुज, जिसकी न तो कोई विशेष लम्बाई है और न भुजाओं का विशेष अनुपात वह तुरत ही सत्व-निगमन और सामान्य प्रत्यय के सम्बन्ध में समस्त परम्परागत विचार के बेतुकेपन को देख लेगा।[1]

इस तरह ज्ञानेन्द्रियों की प्रामाणिकता या बाह्य अस्तित्व की धारणा पर पहली दार्शनिक आपत्ति यह है कि, ऐसी धारणा यदि प्रकृति-दत्त मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है तो विवेक के विपरीत है, और यदि तर्क पर तो प्रकृतिगत मूल प्रवृतियों के विपरीत, तथा एक तटस्थ अन्वेषक की सतुष्टि के लिए कोई बौद्धिक प्रामाणिकता नही रखता। दूसरी आपत्ति और भी दूरगामी है और इस धारणा को विवेक के प्रतिकूल रूप मे प्रस्तुत करती है यदि यह तार्किक सिद्धात है, तो कम से कम समस्त अनुभवगत गुण मस्तिष्क मे है पदार्थ मे नही। पदार्थ से उसके समस्त जानने योग्य गुणो, प्राथमिक व पश्चात्गामी, से मुक्त कर दीजिए, आप एक तरह से पदार्थ को ही नष्ट कर देते है, और एक अज्ञात अवर्णनीय कुछ को ही हमारे प्रत्यक्षो के कारण रूप मे बाकी रखते है। एक इतनी अपूर्व धारणा कि कोई सदेहवादी उसे विपरीत विचार किये जाने योग्य नही समझेगा।

---

१ यह तर्क डा० बर्कले से उद्धृत है, और निसदेह उस बडे विद्वान लेखक के अधिकाश लेख सदेहवाद की सर्वोच्च सीख प्रस्तुत करते हैं जो कि या तो प्राचीन या अर्वाचीन दार्शनिको, बायल को छोड कर, मे उपलब्ध हैं। अपने शीर्षक पृष्ठ मे वह स्वीकार करता है, और निसदेह बडी ईमानदारी से, कि उसने अपनी पुस्तक सन्देहवादियो, अनीश्वरवादियो और स्वतत्र-चिन्तको के विरुद्ध लिखी हो। किन्तु यह कि उसके समस्त तर्क विचार-यद्यपि दशा की ओर लक्ष्य करते हैं, यथार्थता वह मात्र सदेहवादी ही है, इससे स्पष्ट होता है कि वे न तो कोई उत्तर स्वीकार करते हैं, न ही कोई समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनका एकमात्र प्रभाव क्षणिक आश्चर्य व अनिश्चितता और जटिलता उत्पन्न करने के हैं जो कि सदेहवाद का परिणाम है।

दूसरा भाग

तर्क और अनुपातीकरण द्वारा बुद्धि को नष्ट करने का संदेहवादियो द्वारा किया गया प्रयत्न बडा अतिवादी मालूम होगा, तथापि वह उनके समस्त अन्वेषण और विरोध का सुन्दर क्षेत्र है। वे हमारे सत्वहीन विचार और तथ्यात्मक व सत्तात्मक दोनो ही विचारो मे आपत्तियाँ ढूंढ निकालने का यत्न करते हैं।

समस्त सत्वहीन तर्कविचार के विपरीत उनकी प्रमुख आपत्ति देश और काल के प्रत्यय से नि सृत है वे प्रत्यय जो कि सामान्य जीवन मे और साधारण दृष्टिकोण से बहुत ही स्पष्ट और बुद्धिग्राह्य हैं, किन्तु जब उन्नत विज्ञानो द्वारा किये जाने वाली छटनी, जो कि इन विज्ञानो का प्रमुख उद्देश्य है, पर से होकर गुजरते हैं, ऐसे सिद्धात प्रस्तुत करते है जो कि बेतुकेपन और विपरीतभाव से पूर्ण होते है। किसी भी धर्मवादी रूढ-सिद्धात ने वे सिद्धात जो कि मनुष्य की विद्रोही वृत्ति को नियन्त्रित और पालतू बनाने के उद्देश्य से अविष्कृत हुए, सामान्यज्ञान को इतना अधिक धक्का नही पहुँचाया जैसा कि विस्तार के असीमित विभाज्यता के मत ने, जैसा कि उसके परिणामो के साथ समस्त ज्यामिति शास्त्रियो और पराभौतिकवादियो ने, एक विजय और उल्लास के साथ, बडी शान से व्यक्त किया। किसी सीमित परिमाण से असीमित रूप से कम एक यथार्थ परिमाण ऐसे गुणो से समाविष्ट हो जो कि उससे भी असीमित रूप से कम हो और इस तरह अनन्त रूप से—एक ऐसी विचित्र और निर्भीक स्थापना है जो कि उसके पक्ष मे दिये गये किसी भी व्याख्या के लिए भारी है क्योंकि मानवीय विवेक के स्पष्टतम और अतिस्वाभाविक सिद्धान्तो को भी वह हिला देता है।[1] किंतु इस विषय को और भी अधिक असाधारण

---

१ गणित के विंदुओ के विषय मे चाहे जो विवाद हो, भौतिक-विंदुओ को तो अवश्य ही मानना चाहिए अर्थात् विस्तार के वे खड जो कि दृष्टि या कल्पना के द्वारा पुन विभाजित या लघु नहीं किये जा सकते। इस तरह ये विंदु, जो कि या तो कल्पना या ज्ञानेन्द्रियो के सम्मुख प्रस्तुत हैं,

वनाने वाला तथ्य यह है कि ये बेतुकी दीखने वाली धारणाएँ स्पष्टतम और अति स्वाभाविक तर्क विचार की शृखला द्वारा सम्हाली जाती है, हमारे लिए यह भी सम्भव नही कि विना परिणाम को स्वीकार किये हम अवधारणाओ को मान्य करें। वृत्तो और त्रिकोणो की विशिष्टताओ से सम्वन्धित समस्त निष्कर्षो से अधिक कुछ और सतोपजनक व सतुष्टिप्रद न होगा और इतना होने पर भी हम यह कैसे अस्वीकार कर सकते है कि एक ओर उसे स्पर्श करने वाली रेखा के सम्वन्ध से परिणामभूत कोण किसी भी समकोण से असीमित रूप से लघे है, कि जैसे-जैसे आप वृत्त की परिधि को असीमित रूप से वढायेंगे, इस स्पर्श का कोण असीमित रूप से और भी छोटा होता जावेगा और यह कि अन्य वक्र और उसे स्पर्श करने वाली रेखा के वीच सम्वन्ध का कोण किसी वृत्त और उसे स्पर्श करने वाली रेखा के परिणामभूत कोण से असीमित रूप से कम है, और इस तरह अनन्त की स्थिति तक इन सिद्धान्तो की विस्तारपूर्ण व्याख्या उसी तरह आवश्यक है जिस तरह कि वह जिसमें कि यह सिद्ध किया जाता है कि त्रिभुज के तीनो कोण दो समकोण के वरावर हैं, यद्यपि वाद की यह चर्चा पूर्वोल्लेखित सिद्धान्तो की व्याख्या से—जो कि विरोधाभासों और विरोधी से पूर्ण हो—स्वाभाविक और सरल हो सकती है। यहाँ मानव विवेक एक प्रकार के वैचित्र्य और स्तब्धता की अवस्था मे फेंका दिया गया-सा प्रतीत होता है जो विना किसी सदेहवादी की सम्पत्ति के विना अपने आप मे उस मार्ग के जिस पर कि वह चलता है, एक तरह के अविश्वास से जकड जाता है। वह एक पूर्ण प्रकाश देखता है जो कई स्थलो को प्रकाशित करता है, किन्तु वह प्रकाश एक वडे गहन अधकार

नितान्त रूप मे अविभाज्य हैं और परिणामत. गणितज्ञो द्वारा यह अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे विस्तार के किसी भी यथार्थ भाग की अपेक्षा अनन्त रूप से लघु हैं, किंतु फिर भी बुद्धि को इससे अधिक और कुछ निश्चित प्रतीत नहीं होता कि ये ही असख्य बिंदु असीमित विस्तार की रचना करते हैं। विस्तार के वे असीमित रूप से लघु भाग कितने असख्य हैं जो कि पुन असीमित रूप से विभाज्य माने जाते हैं।

ण्र अतिम किनारे की तरह होता है। और इनके बीच वह इतना चका-चौंव और तर्क भ्रष्ट हो जाता है कि वह किसी भी विषय पर शायद ही निश्चितता और विश्वासपूर्वक कोई निर्णय दे पाता है।

नि सत्व विज्ञानो के इन सुदीर्घ सुनिश्चितताओ का बेतुकापन विस्तार की अपेक्षा काल के सन्दर्भ मे, यदि सभव हो, तो और भी रुचिकर हो उठता है। काल के क्रमश असख्य खड, जैसे क्रमश आते और एक के वाद एक विलीन होते जाते हुए, इसने स्पष्ट रूप से विरोधपूर्ण प्रतीत होते है, कोई ऐसा मनुष्य भी, जिसकी निर्णयात्मक शक्ति अस्वस्थ नही है, विज्ञानो द्वारा उत्साह व वृद्धि पाने की जगह, उसे कभी स्वीकार करने योग्य न होगा।

फिर भी बुद्धि इन प्रतीत होने वाले बेतुकेपन और विरोधो के फलस्वरूप उत्पन्न सदेहवाद के सम्बन्ध मे बेचैन और असन्तुष्ट रहेगी। यह कैसे सम्भव है कि एक स्पष्ट और निश्चित प्रत्यय स्वय से विरोधी परिस्थितियो को समाविष्ट कर सके या एक स्पष्ट और निश्चित प्रत्यय बिलकुल ही जाना जा सकने योग्य हो और शायद उतना ही अर्थहीन हो जितना कि कोई वाक्य हो सकता है। अत यह सदेहवाद की अपेक्षा, जो कि ज्यामिति शास्त्र या पारिमाणिक विज्ञान के परस्पर विरोधी निष्कर्षों से उत्पन्न होता है, कुछ और भी अधिक सन्देहजनक या अस्थिरतापूर्ण नही हो सकता।[1]

---

१ मुझे लगता है कि इन विपरीतताओ और विरोधों का हल असम्भव नहीं, यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि सही अर्थों मे नि सत्व या सामान्य प्रत्यय जैसी कोई चीज नहीं, वरन् समस्त सामान्य प्रत्यय यथार्थत सामान्य पदों से सलग्न विशेष प्रत्यय हैं जो कि परिस्थितिवश उन अन्य विशिष्ट प्रत्ययो की याद दिलाते हैं जो कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों मे, भविष्य मे स्थित प्रत्यय से समरूपता रखते हैं। जैसे कि यदि 'घोडा' शब्द का उच्चारण हो, हम तुरन्त ही अपने सम्मुख एक विशिष्ट आकार या रूप के एक सफेद या काले प्राणी का प्रत्यय चित्रित कर लेंगे किन्तु चूकि यही शब्द अन्य रग, आकार व रूप वाले प्राणियो के लिए भी प्रयुक्त होता

नैतिक प्रमाण या वस्तुस्थिति के विचारो के सम्वन्ध मे सन्देहवादी आपत्तियाँ या तो अतिसामान्य हैं अथवा दार्शनिक। अतिसामान्यविरोधी मान्यताएँ,जो विभिन्न देशो और विभिन्न कालो मे स्वीकृत होती रही,रोग और स्वास्थ्य, यौवन और प्रौढावस्था मे हमारे निर्णयो मे जो परिवर्तन हुए, प्रत्येक मनुष्य विशेप के धारणाओ व भावनाओ मे जो एिक स्थिर विरोधाभास वना रहा, इसी तरह के और कई विपयो के सम्वन्व मे। इस शीर्पक के अतर्गत आगे जोर देना अनावश्यक है। ये आपत्तियाँ वहुत कमजोर है, क्योकि जैसे सामान्य जीवन मे, हम प्रत्येक क्षण तथ्य और सत्ता का विचार करते है, और इस तरह के विचार के सतत उपयोग के विना शायद हम नही रह सकते, कोई भी सामान्य आपत्ति जो इससे उत्पन्न होती है वह उस प्रमाण को नप्ट करने मे अवश्य ही अपर्याप्त है। अतिशय सदेहवाद पर शक्तिशाली आक्रमक कर्म और उसका विनियोग, तथा सामान्य जीवन के व्यापार है। ये सिद्धान्त मतवादियो के वीच उन्नतशील व विजयी हो सकते हैं, जहाँ कि निसदेह उनका निराकरण असभव नही तो कठिन अवश्य है। किंतु जैसे ही वे यह छत्रछाया छोडते हैं, यथार्थ वस्तुओ की उपस्थिति के द्वारा जो कि हमारी प्रकृति के अधिक शक्तिशाली सिद्धान्तों के विरोध मे होते हैं और धुएँ की तरह उड जाते

है, ये प्रत्यय शीघ्र ही याद किये जा सकते हैं, यद्यपि कल्पना मे यथार्थत उपस्थित न होगे और हमारे तर्क, विचार व निष्कर्ष उसी तरह गतिशील रहेंगे जैसे कि उनकी यथार्थ उपस्थिति मे रहते। यदि यह स्वीकार किया जाये जैसा कि विचारपूर्ण प्रतीत होता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिमाण सम्वन्धी प्रत्यय, जिस पर कि गणितज्ञ विचार करते हैं, विशिष्ट प्रत्ययो के अतिरिक्त कुछ नहीं जो कि ज्ञानेन्द्रियो व कल्पना के द्वारा प्रस्तुत होते हैं और परिणामत असीमित रूप से विभाज्य नहीं हो सकते। अव इस विपय को विना आगे वढाये छोड देना पर्याप्त है। विज्ञान के समस्त प्रेमियों के लिए निसन्देह ही यह आवश्यक है कि स्वय को वे अपने निष्कर्पों के द्वारा अज्ञानी को आलोचना और हसी से वचावे और यह इन कठिनाइयों का तत्काल उपाय प्रतीत होता है।

हैं, तथा अधिक-से-अधिक दृढ प्रतिज्ञ सदेहवादी को भी अन्य मरणशील व्यक्तियो की दशा मे छोड जाते हैं।

अतएव, यह उचित है कि सन्देहवादी अपने अनुकूल क्षेत्र के भीतर ही बना रहे और उन दार्शनिक आपत्तियो का प्रदशन करे जो कि अधिक सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम हो। यहाँ उसके विजय की सम्भावना अधिक है, जब कि वह न्यायपूर्ण ढग से इस पर जोर देता है कि किसी भी वस्तु स्थिति के हमारे सभी प्रमाण, जो कि हमारी ज्ञानेन्द्रियो या स्मृति की पकड से परे हैं, कार्यकारण सम्बन्ध से उत्पन्न हैं कि इस सबध का हमे कोई विचार नही सिवाय इसके कि दो वस्तुओ को हमने परस्पर सतत रूप से सलग्न देखा है, कि यह विश्वास दिलाने के लिए हमारे पास कोई तर्क नही कि हमारे अनुभव मे वे वस्तुएँ जो सतत रूप से परस्पर सलग्न रही है, अन्य उदाहरणों मे भी इसी तरह से सलग्न होगी और यह हमे इस अनुमान पर पहुँचाने वाला एक सस्कार या हमारी प्रकृति की एक मूल प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नही—जो कि निसदेह ही रोकने मे कठिन है किन्तु अन्य मूल प्रवृत्तियो की तरह त्रुटिपूर्ण और छलयुक्त भी हो सकती है। जब कि सन्देहवादी इन विषयो पर जोर देता है वह या तो अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है या हमारी कमजोरी, और कुछ समय के लिए तो वह अवश्य ही समस्त आशाओ और विश्वासो को नष्ट कर डालता है। ये तर्क विचार और भी अधिक दूरी तक खीचे जा सकते यदि उनसे कोई स्थायी सामाजिक कल्याण या लाभ की अपेक्षा की जा सकती।

चूँकि यहाँ अतिवादी सन्देहवाद के लिए कटु आपत्तियाँ हैं, उससे कोई स्थायी लाभ नही हो सकता जब तक कि वह अपनी पूरी शक्ति और ओजस्विता मे हो। ऐसे सन्देहवाद से हमे केवल यह पूछने की आवश्यकता है, उनका आशय क्या है? और अपने इन सब विचित्र अन्वेपणो से वह कहना क्या चाहता है? वह तुरन्त ही शक्तिहीन हो जावेगा और क्या उत्तर देना चाहिए कि यह नही जान सकेगा। कोपर्निकस और टालमी के मतानुयायी, जो कि अपने भिन्न-भिन्न खगोल शास्त्रो को मान्य करते हैं, इस तरह विश्वास दिलाने की आशा कर सकता है जो कि उसके श्रोताओ मे स्थिर और स्थायी हो। स्टोइक और इपिक्यूरस के अनुयायी

नैतिक प्रमाण या वस्तुस्थिति के विचारो के सम्बन्ध मे सन्देहवादी आपत्तियाँ या तो अतिसामान्य हैं अथवा दार्शनिक। अतिसामान्यविरोधी मान्यताएँ,जो विभिन्न देशो और विभिन्न कालो मे स्वीकृत होती रही,रोग और स्वास्थ्य, यौवन और प्रौढावस्था मे हमारे निर्णयो मे जो परिवर्तन हुए, प्रत्येक मनुष्य विशेष के धारणाओ व भावनाओ मे जो एक स्थिर विरोधाभास बना रहा, इसी तरह के और कई विषयो के सम्बन्ध मे। इस शीर्षक के अतर्गत आगे जोर देना अनावश्यक है। ये आपत्तियाँ बहुत कमजोर है, क्योकि जैसे सामान्य जीवन मे, हम प्रत्येक क्षण तथ्य और सत्ता का विचार करते है, और इस तरह के विचार के सतत उपयोग के बिना शायद हम नही रह सकते, कोई भी सामान्य आपत्ति जो इससे उत्पन्न होती है वह उस प्रमाण को नष्ट करने मे अवश्य ही अपर्याप्त है। अतिशय सदेहवाद पर शक्तिशाली आक्रमक कर्म और उसका विनियोग, तथा सामान्य जीवन के व्यापार है। ये सिद्धान्त मतवादियो के बीच उन्नतशील व विजयी हो सकते है, जहाँ कि निसदेह उनका निराकरण असभव नही तो कठिन अवश्य है। किंतु जैसे ही वे यह छत्रछाया छोडते हैं, यथार्थ वस्तुओं की उपस्थिति के द्वारा जो कि हमारी प्रकृति के अधिक शक्तिशाली सिद्धान्तो के विरोध मे होते हैं और धुएँ की तरह उड जाते

है, ये प्रत्यय शीघ्र ही याद किये जा सकते हैं, यद्यपि कल्पना मे यथार्थत उपस्थित न होगे और हमारे तर्क, विचार व निष्कर्ष उसी तरह गतिशील रहेंगे जैसे कि उनको यथार्थ उपस्थिति मे रहते। यदि यह स्वीकार किया जाये जैसा कि विचारपूर्ण प्रतीत होता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिमाण सम्बन्धी प्रत्यय, जिस पर कि गणितज्ञ विचार करते हैं, विशिष्ट प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ नहीं जो कि ज्ञानेन्द्रियो व कल्पना के द्वारा प्रस्तुत होते हैं और परिणामत असीमित रूप से विभाज्य नहीं हो सकते। अब इस विषय को बिना आगे बढाये छोड देना पर्याप्त है। विज्ञान के प्रेमियो के लिए निसन्देह ही यह आवश्यक है कि स्वय को वे अपने निष्कर्षो के द्वारा अज्ञानी की आलोचना और हसी से बचावे और यह इन कठिनाइयों का तत्काल उपाय प्रतीत होता है।

हैं, तथा अधिक-से-अधिक दृढ प्रतिज्ञ सदेहवादी को भी अन्य मरणशील व्यक्तियो की दशा मे छोड जाते है।

अतएव, यह उचित है कि सन्देहवादी अपने अनुकूल क्षेत्र के भीतर ही बना रहे और उन दार्शनिक आपत्तियो का प्रदर्शन करे जो कि अधिक सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम हो। यहाँ उसके विजय की सम्भावना अधिक है, जब कि वह न्यायपूर्ण ढग से इस पर जोर देता है कि किसी भी वस्तु स्थिति के हमारे सभी प्रमाण, जो कि हमारी ज्ञानेन्द्रियो या स्मृति की पकड से परे हैं, कार्यकारण सम्बन्ध से उत्पन्न है कि इस सबध का हमे कोई विचार नही सिवाय इसके कि दो वस्तुओ को हमने परस्पर सतत रूप से सलग्न देखा है, कि यह विश्वास दिलाने के लिए हमारे पास कोई तर्क नही कि हमारे अनुभव मे वे वस्तुएँ जो सतत रूप से परस्पर सलग्न रही हैं, अन्य उदाहरणो मे भी इसी तरह से सलग्न होगी और यह हमे इस अनुमान पर पहुँचाने वाला एक सस्कार या हमारी प्रकृति की एक मूल प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नही—जो कि निसदेह ही रोकने मे कठिन है किन्तु अन्य मूल प्रवृत्तियो की तरह त्रुटिपूर्ण और छलयुक्त भी हो सकती है। जब कि सन्देहवादी इन विषयो पर जोर देता है वह या तो अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है या हमारी कमजोरी, और कुछ समय के लिए तो वह अवश्य ही समस्त आशाओ और विश्वासो को नष्ट कर डालता है। ये तर्क विचार और भी अधिक दूरी तक खीचे जा सकते यदि उनसे कोई स्थायी सामाजिक कल्याण या लाभ की अपेक्षा की जा सकती।

चूकि यहाँ अतिवादी सन्देहवाद के लिए कटु आपत्तियाँ हैं, उससे कोई स्थायी लाभ नही हो सकता जब तक कि वह अपनी पूरी शक्ति और ओजस्विता मे हो। ऐसे सन्देहवाद से हमे केवल यह पूछने की आवश्यकता है, उनका आशय क्या है? और अपने इन सब विचित्र अन्वेषणो से वह कहना क्या चाहता है? वह तुरन्त ही शक्तिहीन हो जावेगा और क्या उत्तर देना चाहिए कि यह नही जान सकेगा। कोपर्निकस और टाल्मी के मतानुयायी, जो कि अपने भिन्न-भिन्न खगोल शास्त्रो को मान्य करते हैं, इस तरह विश्वास दिलाने की आशा कर सकता है जो कि उसके श्रोताओ मे स्थिर और स्थायी हो। स्टोइक और इपिक्यूरस के अनुयायी

केवल सिद्धान्तो की चर्चा करते है जो कि स्थायी हैं वरन् जिनका कि आचरण और कर्म पर भी प्रभाव पडता है। किन्तु एक अतिशय सदेहवादी यह अपेक्षा नही रख सकता कि मस्तिष्क पर उनके दर्शन का कोई विशेष प्रभाव होगा और यदि हो भी तो उसका प्रभाव समाज के लिए लाभकारक होगा। ठीक इसके विपरीत उसे स्वीकार करना चाहिए, यदि वह कोई चीज स्वीकार करें कि यदि उसके सिद्धान्त स्थायी रूप से मान्य हो सकते हैं तो समस्त मानव-जीवन का अन्त हो जाना चाहिए। समस्त चर्चाएँ, समस्त कर्म तब तुरत ही बद हो जायेगे और मनुष्य पूर्ण अक्रिया मे लुप्त हो जावेगा, जब तक कि इन सबसे असतुष्ट प्रकृति की आवश्यकताए उनके दयनीय स्थिति की परिसमाप्ति ही न कर दें। यह सत्य है कि इतनी भयकर दुर्घटना से बहुत ही कम डरना चाहिए। सिद्धान्तो की अपेक्षा प्रकृति सदैव ही अधिक शक्तिशाली है। और यद्यपि एक अतिशय सदेहवादी अपने आपको या दूसरे अपने गहन तर्क के द्वारा क्षणिक आश्चर्य और अव्यवस्था की दशा मे फेंक सकता है। किंतु जीवन की पहली और अति साधारण घटना ही उसके समस्त सन्देहो और शकाओ को काफूर कर देगी और प्रत्येक कार्य तथा चिन्तन की दशा मे उसी पूर्वावस्था मे पहुँचा देगी जहाँ कि अन्य सभी मतवादी दार्शनिक रहते हैं या जहाँ कि व्यक्ति दार्शनिक अन्वेषणो से निर्लिप्त रहते है। जब वह अपने स्वप्न से जागता है, तब वह स्वय ही अपनी हसी उडाने के साथ देने वाला प्रथम व्यक्ति होता है और यह स्वीकार करने के भी कि उसकी समस्त आपत्तियाँ निरी मनोरजन मात्र थी तथा क्रिया व बुद्धि और आस्था से पूर्ण मानव जाति के काल्पनिक दशा को दिखाने के अतिरिक्त उनकी और कोई प्रवृत्ति नही हो सकती, यद्यपि अपनी खोज मे ये इसके योग्य नहीं कि इन क्रियाओ के मूलाधार के सम्बन्ध मे वे स्वय सतुष्टि कर सकें या उन आपत्तियो को दूर कर सकें जो कि उनके विरुद्ध उठायी जा सकती है।

तीसरा भाग

निसन्देह एक और मध्यम मार्गीय सन्देहवाद है जो कि स्थायी और उपयोगी दोनो ही हो सकती है तथा जो आतरिक रूप से अतिवादी सन्देह-

गद का ही परिणाम हो सकती है, यदि इस अतिवाद के अमान्य सदेहो को कुछ अशो मे सामान्य ज्ञान और पुन चिन्तन द्वारा सशोधित किया जाय। अधिकाशत मानव जाति अपनी धारणाओ के हठवादी और अध परम्परावादी होती है, और जब कि वे वस्तुओ को केवल एकागी दृष्टि से देखते हैं और विपरीत तर्क का उन्हे विचार नही होता, अपने आपको तुरन्त ही ऐसे सिद्धान्त के ग्रहण की ओर ले जाते हैं जिधर उनकी प्रवृत्ति होती है। न ही उन्हें उन लोगो से कोई विरोध होता है जो कि विपरीत भाव रखते है। अस्थिरता या असतुलन उनके ज्ञान शक्ति को भ्रष्टक" भावों मे रुकावट और कार्यो का स्थगन कर देती है। इसलिए जब तक कि वे ऐसी स्थिति के बाहर नही आ जाते जो कि उनके लिए असुविधा जनक है वे असतुष्ट रहते है और सोचते हैं कि अपने विश्वास की स्वीकृति और रूढ आस्था का उल्लघन कर अपने आपको कभी भी इससे दूर नही कर मकते। किन्तु क्या ये रूढिवादी विचारक मानवीय बुद्धि की उसकी सर्वाधिक पूर्णावस्था तथा उसकी धारणाओ की औचित्य पूर्ण और जागरूक अवस्था मे भी, विचित्र अस्थिरता के प्रति सचेत रह सकते है ? इस प्रकार का चिन्तन स्वभावत ही उन्हे अधिक औदार्य गभीरता की ओर आकृष्ट अपने विचार के प्रति प्रेम, और विरोधियो के प्रति द्वेष-भाव को कम करेगा। एक अनपढ ऐसे विद्वान की मान्यताओ पर विचार कर मकता है जो कि अध्ययन और चिन्तन की तमाम सुविधाओ के बीच अभी भी मामान्यत अपनी धारणाओ के प्रति अविश्वासी होते हैं और यदि कुछ विद्वान् अपने स्वभाव स्वरूप तेजमिजाजी और हठवादिता की ओर प्रवृत्त हो, अति सन्देहवाद की थोडी ही मात्रा उनके अहकार को कम कर देगी उन्हे यह दिखाकर कि अपने अन्य सहचितको के विरुद्ध जो थोडा बहुत लाभ वे प्राप्त कर सकते है, वे कुछ भी नही यदि उनकी तुलना मानव प्रकृति के सार्वजनिक निराशाओ और उलझनो से की जाय। सक्षेप मे, मन्देह, सावधानी और सतुलित मूल्यीकरण की एक मात्रा है, जिसे कि सभी प्रकार के काट-छाँट और निर्णयो मे एक न्यायपूर्ण तार्किक साथ अवश्य ही होना चाहिए।

अन्य प्रकार का मध्यममार्गीय सन्देहवाद, जो कि मानव जाति के

लिए लाभप्रद है, तथा जो अति सदेहवादी शकाओ और आक्षेपो का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है, हमारे अन्वेषणो को उन विपयो तक सीमित रखता है जो कि मानवीय समझ की सीमित शक्ति की परिधि मे ही चितनीय है। मानवीय कल्पना सामान्यत उर्ध्वगामी है, जो भी दूरस्थ और असाधारण है—उसमे मग्न, और उन वस्तुओ को टालने के लिए जो कि सस्कार ने उसके लिए बडे परिचित बना दिये हैं,देश,काल के अति दूरस्थ भागो मे भाग दौड मे व्यस्त। एक सही निर्णय की विधि विपरीत होती है, वह समस्त दूरस्थ और उच्च अन्वेपणो से दूर रह साधारण जीवन मे और ऐसे विपयो मे, जो कि दैनिक क्रियाओ और अनुभवो के अतर्गत आते हैं, सीमित होती है, अधिक उच्च विपयों के अतर्गत आते हैं, सीमित होती है, अधिक उच्च विपयो को वह कवियो और भापण कर्त्ताओ की क्षुधापूर्ति या पुजारियो और राजनीतिज्ञो की कलात्मकता के लिए छोड देती है। हमे इतने अच्छे परिणाम तक पहुचाने वाले अति-सन्देहवाद की शकाशक्ति पर पूर्ण विश्वास की अपेक्षा और कुछ अधिक लाभकारी नही हो सकता, और साथ ही इसकी असम्भाव्यता भी कि स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियो के अतिरिक्त इससे हमे और कोई छुटकारा भी दिला सकते हैं। जिनकी दर्शन मे प्रवृत्ति है वे अब भी अपनी खोज जारी रखेंगे, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसी क्रिया मे तात्कालिक सुख के अतिरिक्त भी, दार्शनिक चिन्तन सामान्य जीवन के विधिवत् व सशोधित रूप के अतिरिक्त और कुछ नही। पर उनमे सामान्य जीवन से परे जाने की उत्सुकता नही होनी चाहिए, जब तक कि वे ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयुक्त साधनो की अपूर्णताओ—उनकी सीमित पहुच और उनकी त्रुटिपूर्ण क्रियाओ—के प्रति सचेत हैं। निसन्देह हम हजार प्रयोगो के बाद भी इसका कोई सतोपजनक उत्तर नही दे सकते क्योंकि हम विश्वास करते हैं कि पत्थर गिरेगा और आग जलायेगी, किन्तु क्या हम कभी भी विश्वो की उत्पत्ति, प्रकृति की स्थिति, स्वरूप और नित्यता के सम्बन्ध मे हमारी किसी भी मान्यता के प्रति सतुष्ट हो सकते है?

हमारे अन्वेपणो की यह सकीर्ण सीमितता निसदेह ही प्रत्येक प्रकार से इतनी बुद्धि ग्राह्य है कि उसे अपने सम्मुख सिद्ध करने के लिए इतना

ही आवश्यक है कि मानवीय बुद्धि के स्वाभाविक शक्तियो की थोडी जाँच-परख की जाय। हम तब पायेंगे कि विज्ञान और अन्वेपण के सही विपय क्या हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि नि सत्व विज्ञान या प्रयोगात्मक विज्ञान के मात्र विपय मे मात्रा और सख्या और मानवीय ज्ञान के इन अविक विकसित प्रकारो (अर्थात् विज्ञानो।) को इन सीमाओ की परिधि से परे खीचना केवल विवाद और भ्रम है। चूकि मात्रा और सख्या के निर्माणक घटक बिलकुल समान हैं, उनके सम्बन्ध जटिल होते और परस्पर उलझ जाते हैं तथा इससे अधिक और कुछ जिज्ञासाप्रद और साथ ही लाभप्रद भी, नही हो सकता कि विभिन्न साधनो से उनके विभन्न स्वरूपो द्वारा प्रकट समानता या असमानता को ढूंढा जावे ? किन्तु चूकि दूसरे सब प्रत्यय स्पष्ट है एक दूसरे से दूर और भिन्न हैं, हम अपने समस्त खोज-बीन मे इस विभिन्नता को देखने और विचारपूर्वक यह घोपणा करने के कि अमुक वस्तु दूसरी वस्तु नही है, आगे नही बढ सकते। अथवा यदि इन निणयो के सम्बन्ध मे कोई कठिनाई हो तो वह नितान्त रूप से शब्दो के अनिश्चित अर्थ का परिणाम है, जिन्हे कि सही परिभापा देकर सुधारा जा मकता है। यह कि कर्ण पर का वर्ग दूसरी ही भुजाओं के वर्ग के योग के बराबर होता है बिना तर्क और अन्वेपण के नही जाना जा सकता, चाहे पदो को कितना ही अधिक सुचारू रूप से परिभाषित क्यो न किया जाय। पर इम तथ्य पर कि जहाँ कोई विशेपण नही है वहाँ कोई अन्याय नही हो सकता हमे विश्वास दिलाने के लिए केवल यह आवश्यक है कि पदो को परिभापित किया जाय और अन्याय को अर्थ विशेपज्ञो की अवज्ञा बताया जाय यह तथ्य निसन्देह ही अपूर्ण परिभापा के अतिरिक्त और कुछ नही। यही बात सभी छद्म अनुमान विचारो के साथ है जो कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा मे, मात्रा और सख्या के विज्ञान को छोडकर उपलब्ध हैं और मैं सोचता हू कि केवल ये, अर्थात् मात्रा और सख्या ही त्रुटिहीन रूप से ज्ञान और विवेचना के सही विपय कहे जा सकते है।

अन्य सभी मानवीय गवेपणाए केवल सत्तात्मक और तथ्यपरक विपयो पर होती है और स्पष्टत ये सही विवेचना के अयोग्य हैं। जो

कुछ वह नही भी हो सकता है। किसी भी तथ्य का निषेध, विरोध प्रस्तुत नही करता। किसी भी सत्ताशील का अनस्तित्व, विना किसी अपवाद के, उसके अस्तित्व की तरह स्पष्ट और अलग प्रत्यय हो सकता है। वह कथन उसे (सत्ता को) अस्वीकार करता है, चाहे कितना ही असत्य क्यो न हो, उसे स्वीकार करने वाले वक्तव्य से कभी भी कम विश्वासप्रद और वुद्धिग्राह्य नही हो सकता। किन्तु विज्ञानो के, उनके विशुद्ध रूप मे, सम्वन्ध मे यह वात नही है। वहा ऐसा प्रत्येक कथन जो कि सत्य नही है उलझन पूर्ण और वुद्धि से परे हैं। यह कि ६४ का त्रिघात आधे के वरावर है असत्य कथन है और कभी भी स्पष्टत समझा नही जा सकता। किन्तु सीजर या देवदूत गेव्रियल या और भी अन्य कोई, कभी अस्तित्ववान् न थे, असत्य कथन हो सकता है, किंतु पूर्णत समझे जाने योग्य है और कोई विरोध उपस्थित नही करता।

अतएव, किसी भी सत्ताशील का अस्तित्व उसके कारण या परिणाम पर आधारित तर्को द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता है और वे तर्क अनुभव पर ही पूर्णत आधारित होते हैं। यदि हम प्राक्‌अनुभव से तर्क करें, तो कोई भी चीज़ किसी भी अन्य चीज को प्रस्तुत करने मे समर्थ प्रतीत होगी। इस तरह, हम जान सकते हैं कि पत्थर के टुकडे का गिरना सूर्य को वुझा सकता है, या किसी व्यक्ति की इच्छा नक्षत्रो को उनकी कक्षा मे नियन्त्रित कर सकती है। केवल अनुभव ही हमे कार्यकारण की प्रकृति और सीमाओ से परिचित करा सकता है और एक वस्तु के अस्तित्व से किसी अन्य वस्तु की सत्ता के अनुमान के योग्य वताता है।[1] नैतिक विज्ञान, जो कि मानवीय ज्ञान के वृहत्तर भाग हैं और जो कि समस्त

---

१. प्राचीन दर्शन का वह अपावन सिद्धान्त जिसके द्वारा कि पदार्थ के निर्माण की वर्णना की गयी है, प्रस्तुत दर्शन द्वारा कोई सिद्धान्त नहीं रह जाता। न केवल सर्वोच्च सत्ता की इच्छा ही पदार्थ निर्माण कर सकती है, वरन् हमे प्राक्‌अनुभव ज्ञान होना चाहिए कि किसी भी अन्य सत्ताशील की इच्छा या और भी कोई कारण, जिसे कि अत्यन्त स्वच्छन्द कल्पना प्रस्तुत करे, इसके निर्माण मे समर्थ हैं।

मानवीय क्रिया-कलापो के स्रोत है, के मूल मे यही बात है।

सामान्य तथ्यो से सम्बन्धित विज्ञान हैं राजनीति, दशन, प्राकृत दर्शन, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि जिनके कि विषय के समस्त प्रकारो के विशिष्टताओ तथा कारण परिणाम की खोज-बीन की जाती है।

ईश्वरवाद, चूकि ईश्वर की सत्ता और आत्माओ की अमरता को प्रमाणित करता है, कुछ विशिष्ट तथ्यो और कुछ सामान्य तथ्यो के विचार द्वारा गठित होता है। बुद्धि मे इसका मूल होता है, जहाँ तक कि यह अनुभव पर आधारित होता है। पर इसका सर्वोत्तम और ठोस आधार है श्रद्धा और दैवी अनुभूति।

नीति, व्यवहार और आलोचना बुद्धि की अपेक्षा रुचि और भावनाओ के विषय अधिक है। सौंदर्य, चाहे भौतिक हो या नैतिक, प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुभवगत अधिक है। या यदि हम उसके विषय मे विचार करें और उसका मापदड निश्चित करने का यत्न करें तो उसे हम एक नया तथ्य समझेंगे एक सामान्य मानवीय रुचि, या ऐसा कोई तथ्य जो कि विचार-विमर्श का विषय हो सके।

इन सिद्धान्तो से अनुप्राणित हो यदि हम अपना पूरा पुस्तकालय छान मारें तो क्या कहर हो? उदाहरण के लिए यदि हम कोई पुस्तक, चाहे वह ईश्वर सम्बन्धित हो या दर्शन मतवाद सम्बन्धित, हाथ मे लें और पूछें, क्या यह मात्रा और सख्या से सम्बन्धित किसी नि सत्त्व विचार से सम्बन्धित है? नही। तव क्या यह वस्तु तथ्य और अस्तित्व सम्बन्धी किसी प्रयोगात्मक विचार से सम्बन्धित है? नही। तो हमे उसे आग के हवाले कर देना चाहिए क्योंकि तव उसमे सिवाय बकवास और भ्रम के और कुछ नही हो सकता।

●

कुछ वह नही भी हो सकता है। किसी भी तथ्य का निषेध, विरोध पस्तुत नही करता। किसी भी सत्ताशील का अनस्तित्व, विना किसी अपवाद के, उसके अस्तित्व की तरह स्पष्ट और अलग प्रत्यय हो सकता है। वह कथन उसे (सत्ता को) अस्वीकार करता है, चाहे कितना ही असत्य क्यो न हो, उसे स्वीकार करने वाले वक्तव्य से कभी भी कम विश्वासप्रद और वुद्धिग्राह्य नही हो सकता। किन्तु विज्ञानों के, उनके विशुद्ध रूप मे, सम्बन्ध मे यह वात नही है। वहा ऐसा प्रत्येक कथन जो कि सत्य नही है उलझन पूर्ण और वुद्धि से परे हैं। यह कि ६४ का त्रिघात आधे के बराबर है असत्य कथन है और कभी भी स्पष्टत समझा नही जा सकता। किन्तु सीजर या देवदूत गेब्रियल या और भी अन्य कोई, कभी अस्तित्ववान् न थे, असत्य कथन हो सकता है, किंतु पूर्णत समझे जाने योग्य है और कोई विरोध उपस्थित नही करता।

अतएव, किसी भी सत्ताशील का अस्तित्व उसके कारण या परिणाम पर आधारित तर्कों द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता है और वे तर्क अनुभव पर ही पूर्णत आधारित होते हैं। यदि हम प्राक्अनुभव से तर्क करें, तो कोई भी चीज़ किसी भी अन्य चीज़ को प्रस्तुत करने मे समथ प्रतीत होगी। इस तरह, हम जान सकते है कि पत्थर के टुकडे का गिरना सूर्य को वुझा सकता है, या किसी व्यक्ति की इच्छा नक्षत्रो को उनकी कक्षा मे नियन्त्रित कर सकती है। केवल अनुभव ही हमे कार्यकारण की प्रकृति और सीमाओ से परिचित करा सकता है और एक वस्तु के अस्तित्व से किसी अन्य वस्तु की सत्ता के अनुमान के योग्य वताता है।[1] नैतिक विज्ञान, जो कि मानवीय ज्ञान के वृहत्तर भाग हैं और जो कि समस्त

---

१. प्राचीन दर्शन का वह अपावन सिद्धान्त जिसके द्वारा कि पदार्थ के निर्माण की वर्णना की गयी है, प्रस्तुत दर्शन द्वारा कोई सिद्धान्त नहीं रह जाता। न केवल सर्वोच्च सत्ता की इच्छा ही पदार्थ निर्माण कर सकती है, वरन् हमे प्राक्अनुभव ज्ञान होना चाहिए कि किसी भी अन्य सत्ताशील की इच्छा या और भी कोई कारण, जिसे कि अत्यन्त स्वच्छन्द कल्पना प्रस्तुत करे, इसके निर्माण मे समर्थ हैं।